वैदिकधर्म

क्रमाङ्क २७९

वर्ष २४ : : : : अङ्क ३

फाल्गुन संवत् १९९९

मार्च १९४३

नेता वीर !

नहि व ऊतिः पृतनासु मर्धति
यस्मा अराध्वं नरः ।
अभि व आवर्त् सुमतिर्नवीयसी
तूयं यात पिपीषवः ॥

(ऋ० ७।५९।४)

" हे (नरः) नेता वीरो ! तुम (यस्मै अराध्वं) जिसे संरक्षण देते हो, वह (वः ऊतिः) तुम्हारी संरक्षण शक्ति (पृतनासु नहि मर्धति) युद्धों में उसका विनाश नहीं करती। (वः नवीयसी शक्तिः) तुम्हारी नाविन्यपूर्ण सुमति (अभि अवर्त्) हमारी ओर मुड जाय। (पिपीषव.) रसपान करने के इच्छुक तुम वीर (तूयं आ यात) शीघ्र ही हमारे पास आओ। "

उत्तम नेता वीर का स्वागत करो।

अथर्ववेद का पुनर्मुद्रण।

अथर्ववेदके प्रथम वार मुद्रित पुस्तक सबके सब समाप्त हुए इसलिये इसका द्वितीयवार मुद्रण करना आवश्यक हुआ, और वह कार्य हमने प्रारंभ भी किया। परन्तु युद्ध के कारण कागज का अभाव हुआ है जो इस मुद्रण में बडी बाधा डाल रहा है। हम वेदों की प्रतियां ५००० छापते हैं, परन्तु कागज के अभाव के कारण केवल १०००ही छपना प्रारंभ किया। वह भी समय पर कागज न मिलने के कारण रुका रहा। अब कुछ कागज का अच्छा प्रबंध हुआ इसलिये बाकी रहा मुद्रण अब हो सकेगा।

जो छपाईका व्यवहार जानते हैं वे इस बात को जान सकेंगे कि चार पांच हजार प्रतियां छापने पर पुस्तक जितना सस्ता देना संभव हो सकता है, उतना केवल एक हजार ही छपने से सस्ता देना संभव नहीं है। तथापि इतनी आपत्ति में भी उसी मूल्य से हम ये वेद के ग्रन्थ दे रहे हैं। इस से जो हानि हो रही है वह व्यवहार जाननेवाले पाठक जान सकते हैं।

भारतवर्ष में जितना कागज उत्पन्न होता है उसमें से प्रति शतक ९० कागज भारत की सरकार अपने लिये लेती है और शेष १० फी सदी कागज से भारतवर्ष के सब प्रेस चलनेवाले हैं। इस कागज की न्यूनता के कारण कई छापखाने बंद हुए हैं और कई बंद हो रहे हैं।

प्रेसवालोंने भारत की सरकार के पास अपना वक्तव्य कह दिया, परन्तु अभी किसी ने वह सुना नहीं है। इस-लिये सब मुद्रणालयों के दिन अब गिनती के रहे हैं। हमारी भी वही अवस्था है। जो अन्य मुद्रणालयों की अवस्था है वही हमारी है।

आज कल यह अवस्था संपूर्ण वृत्तपत्रों की हो चुकी है। यह किसी से छिपी नहीं है। गत दो वर्षों से हमने जो ग्रन्थ छापे उन को जो कागज लगाया वह तिगुण चौगुने पांचगुने मूल्य से कागज प्राप्त करके लगाया और पुस्तकों का मुद्रण जारी रखा।

जहां ५००० छपना था वहां १००० छापते हैं और जहां २००० छापना है वहां ३०० या ५०० ही छापते हैं, पर कार्य जारी रखते हैं। ऐसे व्यवहार से जो हानी हो रही है वह सब जान सकते हैं।

ऐसी आपत्ति में 'दैवत संहिता,' 'मैत्रायणी संहिता,' 'काठकसंहिता,' आदि ग्रन्थ छापे हैं। और आगे छपाई इसी तरह चलाने की इच्छा है। पर ऐसी आपत्ति में वेदों का मुद्रण करने पर भी जब ग्राहक शीघ्र पुस्तकें न छापने के लिये बुरा भला लिखते हैं, और वह पढने का सौभाग्य प्राप्त होता है, तो मन शान्त रखने की वह एक परीक्षा ही हो जाती है।

युद्धजन्य परिस्थिति से स्वाध्यायमण्डल बाहर नहीं है। यह परिस्थिति सब के सामने प्रकट है। वह देखते हुए पाठक ऐसे पत्र किस तरह लिख सकते हैं यह एक समस्या ही हमारे सम्मुख खडी है।

स्वाध्यायमण्डलने गत २५ वर्षों में जो कार्य किया है वह जनता के सामने है, आगे जो कार्य हमको करना है वह भी सब जानते ही हैं। सतत निरलस भावसे कार्य हम कर रहे हैं। युद्धजन्य परिस्थिति के कारण कागज मिलता ही नहीं, इस कारण जो देरी होती है उसके लिये हम क्या कर सकते हैं?

तथापि बडी मुश्कील से हमने अथर्ववेद के मुद्रण के लिये आवश्यक कागज प्राप्त किया है और अब यह कार्य निर्विघ्न रीतिसे समाप्त होगा ऐसी हमें आशा है। आजसे तीन मास के अन्दर अथर्ववेद ग्राहकों को मिल जायगा।

—प्रबंधकर्ता

वेदमें नारायणका स्वरूप।

(७)+

वेदमें जो ईश्वर का स्वरूप बताया है, वह किसी अन्य संप्रदाय में इस समय दीखता नहीं है। वेद का ईश्वरवाद एक अद्भुत वाद है, जो हम इस लेखमाला के द्वारा जनता के सामने रखने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस लेख में वेदमें प्रतिपादित 'नारायणका स्वरूप' हम बतावेंगे। पाठक इसका विचार करें और इसको अपनाएं।

पुरुषसूक्त।

चारों वेदों में 'पुरुषसूक्त' नामके सूक्त हैं। इनकी प्रति वेद की मन्त्रसंख्या इस तरह है—

१ ऋग्वेद में (१०।९० में) १६ मन्त्र।
२ (वाजसनेयी) यजुर्वेद में (अध्याय ३१ में) २२ मंत्र।
३ (काण्व) ,, (अध्याय ३५ में) २२ ,,।
४ तैत्तिरीय आरण्यक में (३।१२।१ में) १६ ,,।
५ सामवेदमें आरण्यकाण्ड में (६।४।३-७ में) ५ ,,।
६ अथर्ववेद (शौनकीयसंहिता के १९।६ में) १६ ,,।
७ अथर्ववेद (पिप्पलाद संहिताके ९।५ में) १४ ,,।

इसके अतिरिक्त भी पुरुषसूक्त के मन्त्र ब्राह्मणादि ग्रंथों में आ गये हैं।

ऋग्वेद में इस सूक्त के मन्त्र १६ हैं, वाजसनेय यजुर्वेद में ये १६ मन्त्र हैं पर और ६ मन्त्र अधिक हैं। सामवेदमें केवल ५ ही मंत्र हैं। अथर्ववेद में १४ मंत्र हैं। इनमें थोडासा पाठभेद भी है। उसका विचार हम आगे अर्थ करने के समय करेंगे। हम यहां जो वैदिक ईश्वरका विचार करेंगे, वह संपूर्ण सूक्तका विचार करके ही करेंगे। क्योंकि फुटकर मंत्र लेनेसे पाठकों के ध्यान में आगेपीछे का संबंध नहीं आता और खींचातानी होनेकी भी संभावना रहती है। इसलिये हम यहां संपूर्ण सूक्त के सूक्त पाठकोंके सामने रखेंगे और उस सूक्त के सब मंत्रों का अर्थ देंगे। पाठक भी स्वयं स्वतंत्र बुद्धिसे विचार करके जानें कि, वह संगति ठीक हुई है या नहीं। अपनी स्वतंत्र बुद्धिके अनुसार पाठक विचार कर सकें, इसीलिये यहां संपूर्ण सूक्त के मंत्र दिये जाते हैं। हम कोई बात छिपाना नहीं चाहते। हम यही चाहते हैं कि, वैदिक सत्य धर्म पूर्ण रूपसे पाठकों के सामने आ जावे।

शतपथ का कथन।

इस पुरुष-सूक्त के विषय में शतपथ-ब्राह्मण का कथन यहां ध्यान में धारण करने योग्य है, इसलिये वह हम यहां सबसे प्रथम पाठकों के सामने धर देते हैं—

पुरुषो ह नारायणोऽकामयत। अतिष्ठेयं सर्वाणि भूतानि। अहं एव इदं सर्वं स्यामिति। ...तेनष्ट्वा अत्यतिष्ठत् सर्वाणि भूतानि, इदं सर्वं अभवत्, अतितिष्ठति सर्वाणि भूतानि, इदं सर्वं भवति, य एवं विद्वान् पुरुषमेधेन यजते, यो वा एतदेवं वेद ॥ १ ॥ ... सर्वं हि प्रजापतिः, सर्वं पुरुषमेध० ॥ ६ ॥ ... इमे वै लोकाः पूः, अयमेव पुरुषो, योऽयं पवते, सो अस्यां पुरि शेते, तस्मात्पुरुषः, ॥ १ ॥ ब्रह्म वै प्रजापतिः, ब्राह्मो हि प्रजापतिः० ॥ ८ ॥ ब्रह्मा दक्षिणतः पुरुषेण नारायणेनाभिष्टौति सहस्रशीर्षा पुरुषः० इत्येतेन षाडशर्चेन षोडशकलं वा इदं सर्वं, सर्वं पुरुषमेध-सर्वस्य आप्त्यै० ॥ १२ ॥ (श. प. ब्रा. १३।६-२)

"नारायण पुरुषने ऐसी कामना की कि मैं (इदं सर्वं स्यां) मैं स्वयं यह सब अर्थात् सब विश्व बन जाऊं और (अतिष्ठेयं सर्वाणि भूतानि) इन सब भूतों का अधिष्ठाता भी बन जाऊं। .. उसने यज्ञ किया जिससे वह (इदं सर्वं अभवत्) यह सब अर्थात् सब विश्व बन गया और [अत्यतिष्ठत् सर्वाणि भूतानि) सब भूतों का अधिष्ठाता भी बन गया। जो यह जानता है, वह भी सब बनता है और वह सब का अधिष्ठाता हो जाता है ॥ १ ॥... जो सब है वह प्रजापति हि है, सब ही पुरुषमेध है। ये सब लोक 'पूः'

+ इस लेखमालाका छठा लेख वैदिक धर्म क्रमांक २७८ में पृष्ठ २७ पर 'वेदमें प्रतिपादित ईश्वर' नामसे छपा है।

है, जो इस पुरि में सोता है, वह पुरुष है० ॥ १ ॥ ब्रह्म प्रजापति है और (ब्राह्मः) ब्रह्मसे बने सब पदार्थ भी प्रजापति ही है० ॥ ८ ॥ ब्रह्मा दक्षिण दिशा में रह कर पुरुष नारायण का वर्णन ' सहस्रशीर्षा ' आदि सोलह मंत्रों से करता है, इस सूक्त की सोलह ऋचाएं हैं, इसका कारण यह है कि वह सब सोलहकलाओं से युक्त है। सब ही पुरुषमेध है। सब की प्राप्ति के लिये यह पुरुषमेध यज्ञ किया जाता है। ''

शतपथ के इस सूक्त में ' **नारायण** ' का वर्णन है और नारायण ही यह सब विश्व है, ऐसा स्पष्ट कहा है। इस तरह पुरुषसूक्त का संक्षेप से आशय शतपथ की आंख से देखने के पश्चात् हम पुरुषसूक्त का विचार करेंगे। शतपथ कहता है कि—

(१) नारायण पुरुष ने कामना की कि ' **मैं यह सब विश्व बन जाऊं** ' और उस विश्वके बन जानेके बाद उसका अधिष्ठाता भी मैं ही बन जाऊं।

(२) इस तरह यह नारायण ' **पुरुष अपनी इच्छा से विश्वरूप बन गया,** ' और विश्व का अधिष्ठाता भी बना है।

(३) जो यह ज्ञान जानता है वह सब विश्वरूप बनता है, और विश्व का अधिष्ठाता भी बन जाता है।

इस तरह शतपथ का कथन है। इस सूक्त की देवता ' पुरुष ' है। यह पुरुष ' **नारायण** ' है। ' पुरुष ' और ' **नारायण** ' एक ही ' सत् ' के नाम हैं। इसी को ' **जगद्बीज पुरुष** ' भी कहते हैं। जिस से संपूर्ण विश्व की उत्पत्ति होती है, वही जगद्बीज पुरुष है। इसी पुरुष का यह सूक्त है।

पुरुष का अर्थ ।

' पुरुष ' पदमें ' पुर्-उष, पुर्-वस् ' ये दो पद हैं। पुरमें वसनेवाला, पुर्के साथ सदा रहनेवाला, जो पुर्से कभी पृथक् नहीं होता, वह पुरुष है। जिस तरह मिश्रीमें 'रवा-मिठास ' सदा मिली जुली रहती है, न रवा मिठास से कभी पृथक् हो सकता है और ना ही कभी मिठास रवे से पृथक् हो सकती है, उसी तरह ' पुर्-वस् ' का संबंध जानना चाहिये। रवा और मिठास का भेद कल्पना का है, वास्तविक नहीं है। इसीतरह ' पुरि-वसनेवाला ' यह भेद भी केवल कल्पना का ही है, वास्तविक नहीं है। अर्थात् ' पुरुष ' नामक एक ही ' सत् ' है। ' प्रकृति+पुरुष ' यह केवल कल्पना का भेद है, वस्तु का भेद नहीं। इसलिये पुरुष नामक ' एक सत् ' है, यह बताने के लिये ही यहां ' पुरुष ' देवता रखी है।

सांख्यशास्त्रकार ' प्रकृति-पुरुष ' का भेद वर्णन करते हैं। पर वह एक कल्पना मात्र है। प्रकृति-पुरुष मिलकर 'एक सत्ता' है, जिस एक 'सत् ' से संपूर्ण विश्व बनता है।

इसी एक ' पुरुष ' ने ' मैं अनेक होऊं ' ऐसा संकल्प किया, अपने संकल्प के अनुसार वह विश्व के अनेक रूपोंमें प्रगट हुआ, अर्थात् वह ' अरूप ' होते हुए अपनी इच्छासे ' सुरूप ' बना और स्वयं ही उस विविधरूपी विश्व का अधिष्ठाता भी बन गया। शतपथ के अनुसार इसकी संगति पाठक देखते जायंगे, तो वेद का सत्य उनके सामने प्रकट होता जायगा।

नारायण का अर्थ ।

शतपथ ब्राह्मण ने कहा है कि जो ' पुरुष, है वही ' **नारायण** ' है। पुरुषका अर्थ हमने देखा, अब '**नारायण**' का अर्थ हमें देखना है। ' **नार-अयन** ' ये दो पद इसमें हैं। ' नार ' का अर्थ (नराणां समूहः) मानवों का समुदाय और ' अयन ' का अर्थ ' गमन, प्राप्ति और आश्रय ' है। अर्थात् ' नारायण ' का अर्थ ' जो मानवों के समुदायों में रहा है ' ऐसा हुआ। पाठक इस अर्थ को ठीक तरह स्मरण में रखें। पुरुषसूक्त के अर्थ के विचार करने के समय इसकी आवश्यकता पडेगी।

शतपथ-ब्राह्मण के पूर्वोक्त कथनानुसार जगद्बीज पुरुष नारायण ने कामना की कि ' मैं नाना मानवों के रूपों में प्रकट हो जाऊं और उनका अधिष्ठाता भी मैं ही बनूं। ' इस अपनी कामना के अनुसार वह सब मानवों के रूपमें प्रकट हुआ और उन सबका अधिष्ठाता भी बन गया। शतपथमें इसी को ' प्रजा-पति ' कहा है। नाना प्रकार की प्रजाओं के रूपों में वह प्रकट हुआ और उनका अधिष्ठाता भी बना। पूर्वोक्त शतपथ के वचन में ' **प्रजापति** ' पद है। यहां पाठक ' प्रजा ' और ' पति ' ऐसी दो विभिन्न वस्तुओं की कल्पना न करें। क्योंकि वह प्रजापति ही अपनी महती इच्छा से सब प्रजाओं के विविध रूपों में प्रकट हुआ और

उन सब के निर्माण होनेके पश्चात् वही उन सबका पालन भी करने लगा है। यहां पुरुष (पुर्-वस्), नारायण (नार-अयन), प्रजापति (प्रजा-पति) ये शब्द हैं। ये द्वैतके वाचक नहीं हैं, पर 'एक सत्' के वाचक हैं, यह बात भूलना उचित नहीं है।

एक ही 'सत्' था, उसने कामना की कि, मैं एक हूं, पर मैं अब बहुत हो जाऊं। इस अपनी प्रबल इच्छासे वही एक सत् नाना रूपों में प्रकट हुआ। जब वह नाना रूपों में प्रकट हुआ, तब वही अपनी शक्ति से इस सब विश्व का अधिष्ठाता अथवा नियामक बन गया। एक ही सत् के 'विश्व और उसका नियन्ता' ये दो रूप बने हैं। यह भाव बताने के लिये 'पुरुष, नारायण, प्रजापति' ये शब्द ऊपर के वेद के वचन में प्रयुक्त हुए हैं। स्थायी दो या तीन वस्तु माननेवाले इनही शब्दों का अर्थ द्वैत अथवा त्रैत पर करेंगे, पर पूर्वोक्त शतपथ ब्राह्मण के वचनों के अनुसार विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि, 'एक ही सत् है, वह नाना रूपों में ढल गया है।' पाठक इस तत्व को कभी न भूलें।

इतनी भूमिका के पश्चात् अब हम पुरुष सूक्त का विचार करते हैं-

पुरुष का स्वरूप।

जिस नारायण पुरुष का वर्णन इस पुरुष-सूक्त में किया है, जिसको प्रजापति भी कहा है, उसका स्वरूप इस सूक्त में निम्नलिखित रीति से कहा है-

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥

[ऋ० १०।९०।२]

० यच्च भाव्यम्। वा. यजु. ३१।२; काण्व १५।२

० यच्च भाव्यम्। उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्येना भवत् सह। [अथर्व० १९।६।४]

यद् भूतं यच्च भाव्यम्। [अथर्व० १३।१।५४]

'यह पुरुष ही (इदं सर्वं) यह सब है, अर्थात् यह संपूर्ण विश्व पुरुष का ही रूप है। इस संपूर्ण विश्व में (यत् भूतं) जो भूत काल में बन चुका था, जो इस वर्तमान काल में बन रहा है, और जो (भव्यं) जो भविष्य काल में बननेवाला है, वह सब विश्व इस पुरुष का ही रूप है। यही पुरुष अमृतत्व का (ईशानः, ईश्वरः) अधिपति है, इसी तरह (यत् अन्नेन अति रोहति) जो अन्न से बढता है, अन्न से पुष्ट होता है, उसका भी स्वामी वही है। ऊपर दिये अथर्व-वचन का अर्थ यह है कि, (यत्) जो (अन्येन सह अभवत्) अन्य भाव के साथ जन्मता है, अर्थात् विविधरूपी बन जाता है, उन विविध रूपों का भी वही अधिपति है। जो एक सत् है, वही विविध रूपों में प्रकट हुआ है और वही अमरत्व का और वही मरनेवालों का स्वामी है। सब का वही एक अधिपति है और वही विश्वरूपी प्रभु है। इस विश्वरूप में सब रूप आये हैं, एक भी रूप छूटा नहीं है। इस एक के ही दो रूप ये हैं-

१	२
अमृत	मृत, (मृत्युयुक्त) अन्नेन अति रोहति (अन्न से बढता है) अन्येन सह अभवत् साशन

एक सत् के ही ये दोनों रूप हैं। जिस एक के ये विविध रूप हैं, वही इन रूपों का धारण करनेवाला है और वही इस विविध रूपों तथा विविध स्वभावोंवाले विश्व का अधिष्ठाता है।

यहां पाठक देखें कि ऋग्वेद और यजुर्वेद के 'ईशानः' पदका अर्थ अथर्ववेद में 'ईश्वरः' ऐसा स्पष्ट किया है। विविध शाखा-संहिताओं को देखने से इस तरह अर्थ की स्पष्टता होती है।

चतुष्पाद् पुरुष।

जो पुरुष विश्वरूप बनकर हमारे चारों ओर उपस्थित है, वह चतुष्पाद है, अर्थात् चार अंशों में विभक्त होकर वह विश्वरूप हुआ है। इस का विचार पुरुषसूक्त में निम्नलिखित प्रकार किया है-

त्रिपात् पुरुष।

अतो ज्यायांश्च पूरुषः ॥३।१ (ऋ. १०।९०)
त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः ॥ ३।१
त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥४।१
त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत्। (अथर्व० १९।६।२।१)

एकपात् पुरुष ।

पादोऽस्य विश्वा भूतानि ॥ (ऋ. १०।९०।४।१)
पादोऽस्य सर्वा भूतानि । (अथर्व० १९।६।३)
पादोऽस्येहाभवत् पुनः ॥३।२

(ऋ. १०।९०; यजु. ३१; अथर्व १९।६)

' त्रिपात्पुरुष ' का वर्णन– (अतः ज्यायान्) इस विश्व से बहुत बडा यह पुरुष है । इस पुरुष के तीन अंश ऊर्ध्व भाग में प्रकाशते हैं । इस के तीन पाद अमर हैं और वे द्युलोक में हैं । तीन पावों से उन्होंने द्युलोक पर आरोहण किया है । अर्थात् इस पुरुष के तीन हिस्से अमर स्थिति में उच्च द्युलोक में सदा रहते हैं । यहां तीन पाद तीन अंश अथवा तीन हिस्से का आशय ठीक तीनचौथाई भाग ऐसा नहीं समझना चाहिये । बहुतसा भाग ऐसा इस का आशय है ।

'एकपात्पुरुष' का वर्णन– इस पुरुष का एक अंश ये सब भूत हैं । इस का एक अंश इस विश्व में (पुन) पुनः पुनः, वारंवार, (इह अभवत्) नाना भूतों के रूप बनता है । विश्व के रूप में इस का यह अंश वारंवार बन जाता है । यही अंश यहां विश्वरूप बनता है ।

(सर्वा भूतानि पाद) सब भूत, सब प्राणी, अथवा जो भी इस विश्व में वस्तु मात्र है, वह सब इस पुरुष का एक अंश मात्र है । विश्वरूप बननेवाला इस का यह अंश है । इस का चित्र बनाया जाय, तो वह ऐसा दीखेगा–

यही विश्वरूप बनता है ।

यहां यद्यपि ' त्रिपाद् ' और ' एकपाद् ' ऐसे पद पडे हैं और इनका ' तीनचौथाई ' और ' एकचौथाई ' ऐसा अर्थ है, तथापि यहां ' एकपाद ' का अर्थ ' एक अल्पसा अंश ' ऐसा है और ' त्रिपाद् ' का अर्थ ' शेष सारा भाग ' ऐसा है । यहां का वर्णन पुरुष का महत्त्व और विश्व का अल्पत्व बताने के लिये किया है, यह गणितशास्त्र का अंश बताने के लिये नहीं है ।

नारायण पुरुष बहुत ही बडा है, उसकी अपेक्षा से यह विश्व अत्यन्त अल्प है. इतना ही यहां बताना है । जो विश्व हमें अनादि अनन्त दीख रहा है, वह इस नारायण पुरुष के एक अल्प अंश से बना है, अल्प अंश ही इस विश्व के रूप में ढल गया है, यह मंत्र ने यहां बताया है । इसी का वर्णन वेद और कैसा करता है, वह देखिये–

तस्माद्विराळजायत विराजो अधिपूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥
[ऋ० १०।९०।५]

विराडग्रे समभवत् विराजो अधि पूरुषः ।
[अथर्व० १९।६।९]

ततो विराडजायत० । [साम० ६२१]

[तस्मात् = ततः] उस नारायण पुरुष से [अग्रे] सृष्टि के प्रारम्भ में विराट् पुरुष उत्पन्न हुआ । इस विराट् पुरुष के ऊपर अधिष्ठाता भी वही बना । वह विराट् बनते ही [अति अरिच्यत] अतिरिक्त अर्थात् विविध रूपों में प्रकट हुआ । पहले भूमि बनी और उसके पश्चात् उसके ऊपर के सब (पुरः) शरीर बने । इस तरह यह सब संसार बना है ।

इस मंत्र में जो सृष्टि उत्पत्ति का क्रम बताया है, वह यह है–

१ पहले नारायण पुरुष था, उसने इच्छा की कि मैं विश्वरूप बनूं ।

२ उस पुरुष से विराट् पुरुष बना [जिसमें सूर्य चन्द्र आदि प्रकाशमान गोल हैं, वही विराट् है] ।

३ प्रथम इस विराट् में पृथ्वी बनी और पश्चात् पृथ्वी के ऊपर के विविध गुणधर्मवाले शरीर बने हैं ।

इस मंत्र में [सः अत्यरिच्यत] वह अतिरिक्त होता रहा, ऐसा कहा है । अतिरिक्त होने का तात्पर्य गुणों का

अतिरेक होना। एक एक वस्तु में एक एक गुण का अतिरेक होते जाना। इस अतिरेक से, इस गुणों की अतिरिक्तता से यह संसार बना है। देखिये, पृथ्वी में आधार शक्ति, जल में शान्ति, अग्नि में उष्णता, वायु में जीवन प्राणन, आकाश में अवकाश, चन्द्र में आह्लाद आदि अनन्त वस्तुओं में अनंत गुणों की अतिरिक्तता अथवा विशेषता हुई है।

गुणों की विशेषता होना ही पुरुष का विश्वरूप बनना है। गुणों का विशेषीकरण यहां स्पष्ट दीखता है। नारायण पुरुष ने यही कामना की कि मेरे सूक्ष्म गुणों का मैं विशेषीकरण करूंगा और मैं एक हूं तथापि मैं बहुत होऊंगा। बहुत होने का ही तात्पर्य गुणों का विशेषीकरण है। पृथ्वी होने के पश्चात् जो उस पर विविध शरीर बने, उनमें एक से दूसरेमें यह गुणों की विशेषता है। विशेषता के प्रकटीकरण से ही बहुत्व होता है। इस तरह एक के अनेक बनकर यह सृष्टी बनी है।

विराट् पुरुष का वर्णन।

[अधिदैवत]

ऊपर पुरुष सूक्त के मन्त्र से बताया कि, नारायण पुरुष से विराट् पुरुष बना। [विविधानि राजन्ते वस्तूनि अत्र इति विराट्] जिसमें विविध प्रकार के सूर्यचन्द्र नक्षत्रादि तारागण प्रकाशते हैं, उसको विराट् पुरुष कहते हैं। यह विराट पूर्ण पुरुष नारायण के एक अल्प अंश से बना है। इसका वर्णन अब देखिये-

चन्द्रमा मनसो जातः चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत॥१३॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन्
[ऋ. १०।९०; वा. य. ३१; काण्व ३५]
श्रोत्रात् वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत।
[काण्व. य. ३५।१२; वा. य. ३१।१२]

'इस नारायण पुरुष के मनसे चन्द्रमा, आंख से सूर्य, मुख से इन्द्र अथवा अग्नि, प्राण से वायु, नाभि से अन्तरिक्ष, सिर से द्युलोक, पांव से भूमि, कान से दिशाएं उत्पन्न हुई हैं। इसी तरह अन्यान्य अवयवों से अन्यान्य लोकों की उत्पत्ति होने की कल्पना की जा सकती है।'

यहां का वर्णन नारायण पुरुष के अवयवों से चन्द्रमा आदि पदार्थों की उत्पत्ति हुई ऐसा है। परन्तु इस सूक्त में 'नारायण पुरुषके मुख बाहु उदर और पांव कौन से हैं?' ऐसा प्रश्न ग्यारहवें मंत्र में पूछा है। 'इस नारायण पुरुष के अवयवों से किन किन पदार्थों की उत्पत्ति हुई ऐसा प्रश्न नहीं पूछा है। प्रश्न के अनुकूल ही उत्तर आना चाहिये, प्रश्न पूछा 'इसके अवयव कौनसे हैं' और उत्तर दिया 'इसके अवयवों से ये पदार्थ बने' यह ठीक नहीं। अतः इन मन्त्रों का अर्थ निम्न लिखित प्रकार होना चाहिये-

'इस नारायण पुरुष का मन चन्द्रमा है, आंख सूर्य है, मुख अग्नि है, प्राण वायु है, नाभि अन्तरिक्ष है, सिर द्युलोक है, पाव भूमि है, तथा अन्य अवयव अन्य लोक हैं।' वास्तव में पंचमी और प्रथमा का आशय एक ही है, देखिये नीचे के वाक्यमें—

१ मिट्टी घडा बनी है,
२ मिट्टी से घडा बना है।

इन दोनों वाक्यों का 'मिट्टी घडे के रूप में ढल गयी है' इतना अर्थ स्पष्ट है। इसी तरह-

१ **चक्षोः सूर्यो अजायत** [आंखसे सूर्य हुआ।]
[ऋ. १०।९०।१३]
२ **यस्य सूर्यः चक्षुः** [सूर्य जिसका आंख है]
[अथर्व. १०।७।३३]

इन दोनों मंत्रभागों का अर्थ एक ही है। जो यह सूर्य दीख रहा है, वही नारायण का, प्रभु का आंख, पुरुष का आंख है। अब पाठक यहां अथर्ववेद के मन्त्रमें प्रथमा का प्रयोग '**चक्षुः सूर्यः**' और ऋग्वेद में '**चक्षोः सूर्यः**' पंचमीका प्रयोग देखें और जाने की वेदकी परिभाषामें इन दोनों प्रयोगों का तात्पर्य एक ही है और वह 'सूर्य ही परमात्मा का चक्षु है' यह है। यही अर्थ उपनिषदों में किया गया है। वह अब देखिये-

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी सूर्यचन्द्रौ, दिशः श्रोत्रे, वाग् विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो, हृदय विश्वं, अस्य पद्भ्यां पृथिवी, ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥
[मुण्डक उप. २।१।४]

'सर्वभूतों का जो अन्तरात्मा है, उसका सिर अग्नि है, आंखें सूर्य और चन्द्र हैं, कान दिशाएं हैं, वाणी वेद हैं,

वायु प्राण है, हृदय विश्व है, पांव पृथ्वी है। यही सर्व-भूतान्तरात्मा है।' इस मुण्डक उपनिषद् के अनुवाद से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूर्यादि लोक ही उस विराट् पुरुष के नेत्रादि अवयव हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह परमात्मा नारायण पुरुष प्रत्यक्ष दीखनेवाला है। वेद और उपनिषद् के सिद्धांत के अनुसार ईश्वर प्रत्यक्ष दीखनेवाला है। और वह द्युलोक, सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, वृक्ष-वनस्पति, जलप्रवाह, मेघ, पृथ्वी आदि रूपों से हमारे सम्मुख उपस्थित है, क्योंकि ये ही इस प्रभु के नेत्रादि अवयव हैं, ऐसा वर्णन उक्त मंत्रोंमें किया है।

अधिभूत प्रकरण।

पूर्वोक्त वर्णन 'अधिदैवत' प्रकरण में हुआ, अब अधिभूत प्रकरण का वर्णन जो इसी सूक्त में आया है, वह देखते हैं। 'भूत' का अर्थ वेद की प्रक्रिया में 'प्राणी' है। इन प्राणियों की उत्पत्ति कैसी हुई, यह विषय अब देखिये-

ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि॥
(ऋ. १०।९०।४।२)

तथा विष्वङ् व्यक्रामत्॥ (साम. ६१८)

तथा व्यक्रामद् विष्वङ् अशनाऽनशने अनु।
(अथर्व. १९।६।२)

ततो भूमिं व्यक्रामत्॥ (कठ ब्रा.)

नारायण पुरुष का एक अंश यहां (पुनः अभवत्) बार बार जन्मता है, ऐसा पूर्वस्थान में कहा है। वह किस रीतिसे बनता है, यह यहां इन मंत्र-भागों में बताया है। '(ततः) पश्चात् यह पुरुष नारायण (विष्वङ् व्यक्रामत) चारों ओर गति करता है और (साशन-अनशने अभि) खानेवालों और न खानेवालों के रूपों में (अभि) सब प्रकार से (अनु) अनुकूलतापूर्वक प्रकट होता है। कठ ब्राह्मण में 'भूमिं व्यक्रामत्' ऐसा पाठ है, इस का अर्थ 'पृथ्वी पर गति करता है,' ऐसा है, अन्य वर्णन समान ही है।

इस वर्णन का तात्पर्य यह है कि, वह नारायण पुरुष इस पृथ्वी पर विविध रूप धारण करने के लिये जो गति करता है, उस गति से ही भोजन न करनेवाले मिट्टी पत्थर, स्थावर आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं और पश्चात् भोजन करनेवाले कृमिकीट, पशुपक्षी, मानव आदि प्राणी होते हैं।

इस तरह स्थावर जंगम सृष्टि की उत्पत्ति हुई। यह इस मंत्र का कथन है। अब पशुसृष्टी की उत्पत्ति बताते हैं-

पशुसृष्टि।

पशून् तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्यांश्च ये॥८।३
तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः॥१०
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्।८।१
(ऋ. १०।९०।)

पशूँस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये।
(अथर्व० १९।६।१४)

'उन पशुओंकी उत्पत्ति हुई। जो वायुमें संचार करते हैं, वे पक्षी और अरण्य में तथा ग्राम में रहनेवाले सब पशु ये उत्पन्न हुए। उसी (तस्मात्) नारायण पुरुष से घोडे हुए और जो दोनों ओर दांतवाले पशु हैं, वे सभी इसी पुरुष से उत्पन्न हुए। इसी नारायण पुरुष से गौएं भेड बकरियाँ तथा सब ग्रामीण पशु उत्पन्न हुए। ये ग्रामीण पशु होने के पश्चात् (दूध दही मक्खन बनने के पश्चात्) घृत भी निर्माण हुआ जिस से दधिमिश्रित घृत हुआ।

वन्य पशु, आकाशसंचारी पक्षी, तथा ग्रामीण पशु हुए और ग्रामीण पशु होने के पश्चात् दही और घृत ये खाद्य और हव्य पदार्थ बने। यहां तक सृष्टि उत्पत्ति का क्रम बताया गया।

यह सब (तस्मात् सर्वहुतः यज्ञात्) उस सब से पूजनीय यज्ञपुरुष नारायण से ही उत्पन्न हुआ है। अर्थात् यही नारायण पुरुष इन पशुपक्षियों के रूपों में प्रकट हुआ है। यहां 'सर्वहुतः' शब्द का विशेष विचार पाठक करें (सर्वस्मिन् हूयते इति सर्वहुत् तस्मात्सर्वहुतः) सब पदार्थों में जो हवनरूप समर्पित होता है, सब पदार्थों की शकल में जो ढक जाता है, वह सर्वहुत है। जो स्वयं अपने आपको सब पदार्थों के आकारों में डाल देता है, वह सर्वहुत है। इस विषय में ब्रह्म का संकल्प देखिये—

ब्रह्म वै स्वयंभु तपोऽतप्यत।... अहं भूतेषु आत्मानं जुहवानि, भूतानि चात्मनि हवि,

तत्सर्वेषु भूतेषु आत्मानं हुत्वा भूतानि चात्मनि
सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं...पर्यैत्। (श. ब्रा. १३।७।१।१

'स्वयंभु ब्रह्मने तप किया, [और ऐसा संकल्प किया] कि मैं सब भूतों में अपने आपका हवन करूंगा और सब भूतों का अपने में हवन करूंगा। इस तरह उन्होंने अपना हवन सब भूतों में और सब भूतों का हवन अपने में करके वह स्वयंभु ब्रह्म श्रेष्ठत्व को प्राप्त हुआ।'

यही सर्वमेधयज्ञ है, यही सर्वहुत यज्ञ है। ब्रह्म का यह यज्ञ समझ में आनेके लिये हम एक उदाहरण लेते हैं। 'मिट्टीने संकल्प किया कि, मैं अपने आपका हवन घडे की शकल में करूंगा और घडे की आकृति का हवन अपने में करूंगा।' इसी तरह सर्वस्व का हवन होने से ही मिट्टी का घडा बनता है। यदि मिट्टी घडे के रूप में या आकार में अपना पूर्णतया हवन नहीं करेगी और घडे का आकार मिट्टी में पूर्णतया हुत नहीं होगा, तो घडा बनेगा ही नहीं। मिट्टी का हवन घडे की आकृति में होनेसे ही घडा बनता है, यह हर कोई जान सकता है। इसी तरह ब्रह्म, नारायण, पुरुष, परमात्मासंज्ञक एक ही सत् वस्तुने जब अपना हवन इस विश्व के विविध रूपों में पूर्णतया किया, तब यह विश्व इस सृष्टि के रूप में दीखने लगा। 'सर्व-हुत्' का यह तात्पर्य है, पाठक इसका ज्ञान ठीक तरह ग्रहण करें। पूर्वोक्त स्थान में पृथ्वी, पृथ्वी के ऊपर के स्थावर, जंगम, पशुपक्षी आदि सब पदार्थ इस तरह सर्व-हुत यज्ञ से बने हैं, यह बात कही गयी है। 'सर्वहुत्' का यह आशय ठीक तरह समझना चाहिये, तब विश्वरूपी नारायण कैसा है और वही हमारा उपास्य कैसा है, इसका पता लग जायगा।

पशुसृष्टि की उत्पत्ति के पश्चात् मानवसृष्टि बनी है, इसका अब वर्णन देखिये-

मानवसृष्टि।

स्थावरों और पशुपक्षियोंकी सृष्टि होनेके पश्चात् मनुष्यों की उत्पत्ति हुई है। इस मानवोंकी उत्पत्ति के विषयमें वेद के मंत्र जो वर्णन करते हैं, वह वर्णन अब देखिये-

यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किं अस्य, कौ बाहू, का ऊरू, पादा उच्यते ॥११॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखं आसीद्, बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥१२॥
सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशांगुलम् ॥१॥
[ऋ. १०।९०]

मुखं किं अस्य आसीत्, किं बाहू, किं ऊरू, पादा उच्येते ॥ १० ॥ स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा अत्यतिष्ठद् दशांगुलम् ॥ १ ॥ [वा. य. ३१; काण्व. ५]
मुखं किं अस्य, किं बाहू० ॥ ५ ॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखं आसीद् बाहू राजन्योऽभवत्।
मध्यं तदस्य यद् वैश्य पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥६॥
सहस्रबाहुः पुरुषः० ॥ १ ॥ [अथर्व. १९।६]

"जिस पुरुष का आपने वर्णन किया, उसके अवयवों की धारणा कैसी की गयी है? उसके मुख, बाहु, मध्य-भाग, ऊरु, तथा जंघाएं और पांव कौनसे हैं? [इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं-] ब्राह्मण इस पुरुष का मुख है, क्षत्रिय इसके बाहु हैं, वैश्य इसका मध्यभाग तथा जंघाएं हैं और शूद्र पांव हैं। [इस तरह चारों वर्ण इस पुरुष के चार अवयव हैं अत -] यह पुरुष [सहस्रशीर्षा] सहस्रों सिरोंवाला, [सहस्राक्षः] सहस्रों आंखोंवाला, [सहस्र-बाहुः] सहस्रों बाहुओंवाला, [सहस्रपात्] सहस्रों पावों-वाला है, [अर्थात् अन्यान्य अवयव भी इसके सहस्रावधि हैं। इस तरह यह अनंत शरीरोंवाला नारायण पुरुष है।] यह [भूमिं विश्वत. सर्वतः, वृत्वा, स्पृत्वा] भूमि के चारों ओर घेर कर रहता है, पृथ्वी के चारों दिशाओं में है। और यह [दशांगुलं अत्यतिष्ठत्] दस इंद्रियों से जिसके साथ व्यवहार होता, ऐसे विश्वका अधिष्ठाता हुआ है, अर्थात् सब विश्व का शासन कर रहा है।"

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्णों के लोग इस नारायण पुरुषके सिर, बाहू, पेट और पांव हैं। अर्थात् यह जनता ही इस नारायणका स्वरूप है, जो मानवोंके द्वारा सेवा करनेयोग्य है। इस वेदके वर्णन से यह स्पष्ट हुआ कि जैसा सूर्य, चन्द्र, इन्द्र [विद्युत], वायु, पृथ्वी ये ईश्वरके शरीर के अवयव हैं, उसी तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र भी उसी ईश्वरके शरीरके अवयव हैं और वैसे ही गाय, बैल, घोडे, भेड बकरियां भी और कृमिकीट भी उसीके शरीर के अवयव हैं। इस तरह वेदप्रतिपादित यह सर्वभूतान्त

शत्मा सब का उपास्य है, जो सबको दीखता है, उपासक अपना संबंध उसके साथ साक्षात् देख सकता है और इस ईश्वर को किस समय क्या चाहिये और इसकी सेवा किस समय कैसी करनी चाहिये, यह हरएक मानव थोडे से विचार से जान सकता है।

वेद का ईश्वर इस तरह प्रत्यक्ष है। इसके साथ मानव बातें कर सकता है, जिनके साथ बातें नहीं हो सकती, उनसे अन्य रीतिसे जाना जा सकता है कि, उनकी सेवा किस तरह करनी चाहिये। पाठको देखिये, विचारिये और निर्णय कीजिये कि इस वैदिक ईश्वर का स्वीकार आप कर सकते हैं वा नहीं ? अथवा आप इसको तुच्छ समझ कर इसको दूर करना चाहते हैं ? जैसा कि इस समय हरएक संप्रदाय इस विश्वरूपी ईश्वर का त्याग करके कभी न प्राप्त होनेवाले अदृश्य की प्राप्ति में लगा है ? आपको यदि वैदिक धर्म चाहिये, तो आपको इस विश्वरूपी ईश्वर का स्वीकार करना अनिवार्य है।

इसी के हजारों सिर हैं, इसी को हजारों आंख, नाक, कान हैं, इसी के सहस्रों मुख हैं, इसी के सहस्रों बाहू और हाथ हैं, इसी के सहस्रों पेट हैं, इसी को सहस्रों जांघें और पांव हैं। उक्त ईश्वर स्वीकारने से ही यह वेद का वर्णन ठीक तरह समझमें आता है। यह वर्णन ख्याली, निरा काल्पनिक नहीं है, यह प्रत्यक्ष वैदिक ईश्वर का वर्णन है और यह जिस समय चाहे पाठक साक्षात् देख सकते हैं। जो देखा जा सकता है, वह काल्पनिक नहीं कहा जा सकता। वेदमें अनेक स्थानोंमें इसी ईश्वर का वर्णन पाठक आगे के अनेक लेखों में देख सकते हैं। उक्त मंत्रों का आशय मुण्डक-उपनिषद्ने इस तरह दिया है-

तस्माच्च देवा बहुधा संप्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि। प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥ [मुण्डक. २।१।७]

[तस्मात्] उसी ईश्वर से [देवाः] सूर्यचन्द्रादि सब देव [बहुधा] अनेक रीतिसे [संप्रसूताः] सम्यक्तया प्रसूति को प्राप्त हुए हैं।

जन्मको प्राप्त हुए हैं, साध्य, मनुष्य, पशु, पक्षी, प्राण, अपान, चावल जौ, तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और विधि यह सब उसी प्रभु से प्रसूत हुआ है।

यहां 'प्रसूत' शब्द महत्त्व का है। स्त्री प्रसूत होकर सन्तान उत्पन्न करती है। अपने शरीर से पैदा होने का अर्थ प्रसूतिमें है। यद्यपि नर और मादा रूपसे मानवादि प्राणियों में प्रजा होती है, तथापि नरमादा एक ही देहमें कई योनियों में होते हैं। अर्धनारीनटेश्वर की कल्पना यहां करना उचित है। क्योंकि ईश्वर जैसा पिता है, वैसा माता भी है। अर्थात् ईश्वर में मातृपितृशक्ति एक ही स्थान में है, इसीलिये कहा है-

त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः ।
पिता माता सदं इन् मानुषाणाम् ॥ [ऋ० ६।१।५]

'हे प्रभो ! तू सब का तारक है और सब मानवों का मातापिता तू हि है' तथा-

अदितिः माता, स पिता। [ऋ० १।८९।१०]

'अखण्ड प्रभुहि सब का मातापिता है।' तथा और देखिये- [अगले पृष्ठ का कोष्टक देखो]

त्वं हि नः पिता वसो, त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अधा ते सुम्नमीमहे [ऋ० ८।९८।११]

'हे प्रभो ! तू, हम सबका जैसा पिता है, वैसी ही तू, हम सब की माता भी होता है' अर्थात् परमेश्वर सबका मातापिता है। यदि वह सचमुच मातापिता है, तब तो सब प्राणी उसी से माता से उत्पन्न होने के समान ही उत्पन्न हुए हैं, इस में सन्देह नहीं है। उक्त वर्णन से सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, स्थावर, जंगम, पशुपक्षी, मानव ये सब उसी से, माता से उत्पन्न होने के समान उत्पन्न हुए हैं, यह बात स्पष्ट हो जाती है।

एकपाद् पुरुष से इस तरह स्थिरचर सृष्टि उत्पन्न हुई है। इस तरह एक सत्स्वरूप परमात्मा का, निज स्वरूप ही यह सब विश्व, यह सब संसार है। अब परमेश्वर की वाणी का रूप देखिये-

ईश्वर का वाग्रूप।

जिस तरह वैदिक ईश्वर के आंख, नाक, कान, हाथ, पांव, पेट आदि हैं, उसी तरह उसकी वाणी भी है। वेद-रूप वाणीहि उसकी वाणी है-

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छंदांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥
[ऋ० १०।९०।९]

छन्दो ह जज्ञिरे तस्मात्० । [अथर्व० १९।६।१२]
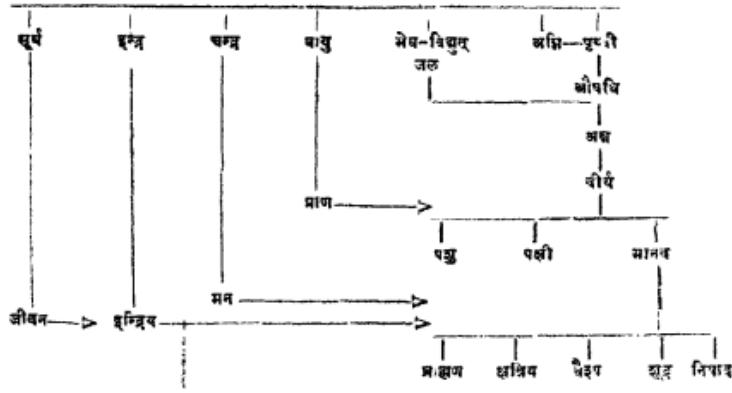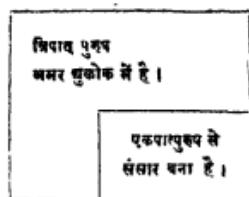
" उस सर्वपूज्य पुरुष नारायण से ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, तथा छन्द उत्पन्न हुए हैं । " यहां भी '**सर्वहुत्**' पद है । परमात्माने जिस तरह सब भूतों के आकारों में अपने आपको ढाल दिया, वैसा ही उसने इस वाणीमें भी अपने आपको ढाला है । अर्थात् अपने ज्ञानके स्वरूप को इस वेदवाणी में प्रकट कर दिया है ।

ये वेद कैसे प्रकट हुए, इस विषय में यहां शंका पाठक कर सकते हैं । वेदों की उत्पत्ति के विषय में नाना मत इस समय जनता में प्रचलित हैं । पर यदि पाठक इसी पुरुष-सूक्त को अपने सामने रखकर विचार करेंगे, तो उन के सामने की वेदोत्पत्ति की समस्या हल हो जायगी । देखिये वाणी का उच्चारण मुखसे होता है, इसमें किसीको सन्देह नहीं है । इसलिये परमेश्वर का मुख यह है, ऐसा जिस समय पता लग जायगा, उस समय यह बात निःसन्देह सिद्ध होगी कि उसी मुखसे यह परमेश्वर की वाणी प्रकट हुई है । इस पुरुषसूक्त में परमेश्वर का मुख बताया है-

प्रश्न- **मुखं किं अस्य ?** [ऋ० १०।९०।११]

उत्तर- **ब्राह्मण अस्य मुखम्** [ऋ० १०।९०।१२]

' इस प्रभु का मुख कौनसा है ? इस का मुख ब्राह्मण है । ' इस प्रश्नोत्तर से स्पष्ट हुआ कि, ब्राह्मण इस प्रभु का मुख है । अतः इस मुख से उस की वाणी प्रकट हुई है । जो ब्रह्मस्वरूप होते हैं, वे ही ब्राह्मण हैं । जो ब्राह्मी स्थिति में पहुंचे हैं, वे ब्रह्मरूप बनते और ब्राह्मण कहलाते हैं । ये ब्रह्मस्वरूप ब्राह्मण ही ईश्वरके मुख हैं । इनके मुखसे ईश्वर बोलता है, अतः इनके मुखसे निकली वाणी ईश्वर

की वाणी है। ये ब्रह्मज्ञानी और ईश्वरका मुख एक ही है। यह इस पुरुषसूक्तका कथन पाठक विचारकी दृष्टिसे देखेंगे, तो उनको स्पष्ट हो जायगा कि वेद कैसे प्रकट हुए हैं।

वेदके द्रष्टा ऋषि वसिष्ठ, अत्रि, भरद्वाज, मधुच्छंदा, विश्वामित्र आदि अनेक हैं। ये ऋषि ब्रह्मरूप स्थिति में जो स्फुरणसे बोले, वह ईश्वर की ही वाणी है। इसी तरह जो ज्ञानी ब्रह्मस्वरूप होंगे, वे जो ब्राह्मी स्थिति में स्फुरण से बोलेंगे, वह भी ईश्वर का ही सन्देश होगा, क्योंकि उस स्थितिमें वे दूसरा कुछ भी कह नहीं सकते।

पुरुषसूक्त के उपदेशानुसार वेदों की उत्पत्ति का वर्णन यह इस तरह है। पाठक इस का विचार अधिक करें। ज्ञान इस तरह उत्पन्न होने के पश्चात् ज्ञान से कर्म की ओर प्रवृत्ति होती है, इसलिये अब कर्म का विचार करना चाहिये। कर्मका अर्थ 'यज्ञ' ही है, अतः अब आधियज्ञ का विचार करते हैं।

इस पुरुषसूक्त में सृष्टि की उत्पत्ति का उपदेश करने के पश्चात् वेदोत्पत्ति का वर्णन किया। सृष्टि में के अग्नि, वायु, सूर्य, आदि देवताएं हैं, इन ही का वर्णन वेद में है और जो उपदेश वेद देता है, वह इन देवताओंके वर्णनके मिष से ही देता है। ईश्वर के अंग ही इन देवताओं के रूप में प्रकट हुए हैं और उन अंगों का अर्थात् ईश्वर के अंगों का वर्णन वेद में है। इसीलिये सब वेद ईश्वर का ही वर्णन कर रहे हैं, ऐसा सब आप्त पुरुष मानते आये हैं।

सर्वे वेदा यत्पदं आमनन्ति। [क० उ० १।२।१५]
वेदैश्च सर्वैः अहं एव वेद्यः। [भ० गी० १५।१५।२]

'सब वेदों से ईश्वर का ही वर्णन होता है।' और इस ईश्वर के वर्णन से ही सब धर्मोपदेश प्राप्त होता है।

यज्ञ का विचार।

वेद में जो ज्ञान दिया है, वह ईश्वर के वर्णन से दिया है। ईश्वर के वर्णन का अर्थ ईश्वर के अंगों का अर्थात् नाना देवताओं का वर्णन है। सब देवताएं मिलकर ईश्वर का शरीर होता है। और सब देवताओंका मिलकर एक विश्वव्यापक महान् यज्ञ विश्वभर में चल रहा है। वेद इस तरह इस महान् यज्ञ का ही वर्णन कर रहा है। अर्थात् वेद का विचार, अथवा वेद का ज्ञान उक्त प्रकार यज्ञ की समृद्धि करनेवाला है। इस पुरुषसूक्त में इस पुरुष नारायण को 'यज्ञ' नामसे ही पुकारा है। अतः इस यज्ञ का स्वरूप हमें यहां देखना आवश्यक है, वह निम्नलिखित मन्त्रों में प्रकट हुआ है-

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातं अग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्चये॥५॥
यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥६॥
सप्तास्यासन् परिधयः त्रिःसप्त समिधः कृताः।
देवा यद् यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्॥१५॥
[ऋ० १०।९०]

तं यज्ञं प्रावृषा प्रोक्षन्०। [अथर्व० १९।६।११]

[अग्रतः जातं तं यज्ञं पुरुषं] सब से प्रथम प्रकट हुए उस यज्ञपुरुष को [बर्हिषि प्रौक्षन्] यज्ञमें यजनीय मान कर संकल्पित किया और उस से देव साध्य और ऋषियोंने [अयजन्त] यजन किया। अर्थात् उस का पूजन किया। [यत् देवाः यज्ञं पुरुषेण हविषा अतन्वत] जब देवोंने पुरुषरूपी हविर्द्रव्यसे यज्ञ का विस्तार किया, तब आज्य, इन्धन और हवि क्रम से वसन्त, ग्रीष्म और शरद् ऋतु थे। जब यज्ञ का फैलाव करनेवाले देवोंने सर्वद्रष्टा पुरुष को अपने यज्ञ का उपास्य या पूज्य मान लिया, तब उस यज्ञ की सात परिधियां थीं, और [त्रिः सप्त] तीनगुणा सात समिधाएं बनी थीं। इन साधनों से ये प्रारंभिक यज्ञ किये जाते थे।

विश्वरूप महायज्ञ में जो हो रहा है, उस का यह वर्णन है। इस विश्वरूपी महायज्ञमें वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत् ये ऋतु यज्ञ करते हैं, वसन्त ऋतुमें फलों की निष्पत्ति होती है, ग्रीष्म इन्धनवत् गर्मी करता है, शरदृतु में सस्य उत्पन्न होते हैं, वे हविके स्थान में हैं। इस तरह यह सांवत्सरिक यज्ञ इस विश्वमें हो रहा है। सब देवताएं इस यज्ञ को कर रहे हैं। इस यज्ञ की निष्पत्ति अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवों से हो रही है। ऋषि इस यज्ञ को देखते हैं, और अपने व्यवहार में उस यज्ञ को लाने का यत्न करते हैं।

जैसे ये संवत्सर में ऋतु हैं, वैसे मानव के जीवन में भी ऋतु हैं। इन ऋतुओंके अनुसार कर्तव्यरूप यज्ञ करना मानवके लिये आवश्यक है। बाल्य, कौमार्य, तारुण्य, वार्धक्य ये ऋतु मानवी जीवन में होते हैं और इन ऋतुओं के

अनुसार कर्तव्य करना मनुष्य के लिये आवश्यक होता है। इसी तरह राष्ट्रमें, पंचजनोंके समूहमें ऋतुओंके अनुसार यज्ञ करना आवश्यक होता है, जिस से मानवों की उन्नति होती है।

विश्व में वसन्तादि ऋतुओंके अनुसार सूर्यादि देवताओं की शक्तियों से विश्वयज्ञ का कार्य चल रहा है। शरीर में बाल्य, कौमार्य, तारुण्यादि ऋतुओं के अनुसार इंद्रियादिकों का कार्य चल रहा है। पञ्चजनों के व्यवहार में इस यज्ञ को स्थापन करना और सब मानवों की उन्नति का साधन करना मानवोंका कर्तव्य है। इस रीतिसे व्यक्ति, समाज और विश्वमें यज्ञ का स्वरूप देखना उचित है।

यज्ञ का विचार करने के समय इस यज्ञ का साकल्य से विचार होगा। यहां इस लेखमाला में हमें केवल ईश्वरके स्वरूप का ही विचार करना है, इसलिये इस यज्ञके विषय को यहीं हम संक्षेप से समाप्त करना चाहते हैं!

इस यज्ञमें भी यज्ञस्वरूप ईश्वर की पूजा ईश्वरस्वरूपी विश्वान्तर्गत हविर्द्रव्यों से ही की जाती है। देखिये इस का यह संक्षेप से स्वरूप है –

१. ईश्वर चार भाग है, ऐसी कल्पना कीजिये। उन में से तीन भाग अमृतरूप हैं और चतुर्थ भाग इस विश्व के रूप में वारंवार बन जाता है, जिस से यह विश्व बना है।

२. इस एकपाद ईश्वरसे सूर्य, चन्द्र, वायु, जल, पृथ्वी, औषधि वनस्पति आदि सृष्टि बनी है।

३. इसी एकपाद विश्व से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र बने हैं, जो ईश्वर के शरीर के चार अवयव हैं।

४. मानव यज्ञ करते हैं, प्रभूका यजन, पूजन करते हैं। इस यज्ञ में वे विश्व में प्राप्त पदार्थों को ही बर्तते हैं। इस का अर्थ वे "यज्ञ से ही यज्ञीय प्रभु का यज्ञ करते हैं।" क्योंकि यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणक्षत्रियादिक ईश्वर के रूप हैं, अग्नि आदि देवता भी ईश्वर के रूप हैं, वृक्षवनस्पतियां ईश्वर का रूप होने से समिधाएं भी ईश्वर के रूप हैं, घृत आदि भी ईश्वरके ही रूप हैं। अर्थात् यह आत्माका यज्ञ आत्मा ही कर रहा है, यही भाव निम्नलिखित मन्त्रमें है-

यज्ञ का फल।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः
तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त
यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥१६॥ (ऋ०१०।९०)

यज्ञस्वरूप परमेश्वर की पूजा यज्ञस्वरूप विश्वसामग्री से की जाती है। येही धर्म मुख्य हैं। जो ऐसे यज्ञ करते हैं, वे महत्त्व को प्राप्त करते हैं, जहां पूर्वसमय के सिद्ध लोग जाते और प्रकाशपूर्ण स्थिति में रहते हैं।"

यहां '**यज्ञ से यज्ञ का यजन**' होने का वर्णन है। निरुक्तकार यास्काचार्य इसीका आशय '**आत्मना आत्मानं अयजन्त**' अर्थात् आत्मा से आत्मा का यजन यहां होता है, ऐसा बताते हैं। गीता में यही भाव है–

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥
(भ० गी० ४।२४)

'आहुति ब्रह्म है, हविर्द्रव्य ब्रह्म है, अग्नि ब्रह्म है, हवनकर्ता ब्रह्म है और वह हवन करता है। इस तरह ब्रह्मबुद्धि होनेसे ब्रह्मप्राप्ति होती है।' यही बात इस पुरुषसूक्त में कही है। तात्पर्य यह सम्पूर्ण विश्व ही ब्रह्मस्वरूप है। यह इस पुरुषसूक्त से सिद्ध हुआ है।

पुरुष, नारायण, देव, यज्ञ, ईश्वर, आत्मा, परमात्मा आदि नाम एक '**सत्**' के हैं। इसी एक सत् से सूर्यादि लोकलोकान्तर हुए, इस सूर्यसे बुध, शुक्र, पृथ्वी, गुरु, शनि आदि ग्रह हो गये, पृथ्वीसे वृक्षवनस्पति अन्नवीर्य होकर सब प्राणी बने, मानव बने। ये मानव यज्ञ करने लगे, तो उस यज्ञके साधन विश्वान्तर्गत ओषध्यादि साधन ही थे और वे एक ही 'सत्' के रूप हैं। अतः 'सत्' ही यह सब करता है, यह सिद्ध होता है। इस तरह वेदका सदैक्यवाद इस पुरुषसूक्तने सिद्ध करके बताया है।

पाठक इस वेद के सदैक्यवाद को जानें और अपनाने का यत्न करें। वेद का धर्म आचरण में लानेके लिये है। केवल वादविवाद का यह धर्म नहीं है। सदैक्यवाद से आचार में क्रान्ति होनेवाली है। इस समय का समाज द्वैतवाद का आचरण कर रहा है, उस समाज को इस सदैक्यवाद की अनन्यभाव की भूमिका पर लाना है। इससे दिव्य समाज की निर्मिति होनेवाली है। जो इसको अपनायेंगे वेही इस वेद के धर्म के सन्देशहर हैं।

आगेके लेखमें पुरुषसूक्तके श्रीमद्भागवतमें किये अनुवाद से इसी सदैक्यवादका अधिक स्पष्टीकरण किया जायगा।

वेद का रहस्य।

ग्यारहवां अध्याय [ख]

आंगिरस उपाख्यान और गौओं का रूपक।

[लेखक- श्री० योगी अरविंद घोष; अनुवादक- स्वामी अभयदेवजी]

अब हमें गौ के इस रूपक को, जिसे कि हम वेद के आशय की कुञ्जी के रूप में प्रयुक्त कर रहे हैं, अङ्गिरस ऋषियों के उस अद्भुत उपाख्यान या कथानकमें देखना है, जो सामान्य रूप से कहें तो, सारी की सारी वैदिक गाथाओं में सब से अधिक महत्व का है।

वेदके सूक्त, वे और जो कुछ भी हों सो हों, वे सारे के सारे मनुष्यके सखा और सहायकभूत कुछ "आर्यन" देवताओं के प्रति प्रार्थनारूप हैं, प्रार्थना उन बातों के लिये है, जो मन्त्रों के गायकों को- या द्रष्टाओं को, जैसा कि वे अपने आप को कहते हैं [कवि, ऋषि, विप्र]- विशेष रूप से वरणीय [वर, वार], अभीष्ट होती थीं। उनकी ये अभीष्ट बातें, देवताओं के ये वर संक्षेप से 'रयि,' 'राधस्' इन दो शब्दों में संगृहीत हो जाते हैं, जिन का अर्थ भौतिक रूप से तो धन-दौलत या समृद्धि हो सकता है और आध्यात्मिक रूप से एक आनन्द या सुख-लाभ जो कि आत्मिक सम्पत्ति के किन्हीं रूपों का आधिक्य होने से होता है। मनुष्य यज्ञ के कार्य में, स्तोत्र में सोमरस में, घृत या घी में, सम्मिलित प्रयत्न के अपने हिस्से के तौर पर, योग-दान करता है। देवता यज्ञ में जन्म लेते हैं, वे स्तोत्रके द्वारा, सोम-रसके द्वारा तथा घृतके द्वारा बढते हैं और उस शक्ति में तथा सोम के उस आनन्द और मद में भरकर वे यज्ञ यज्ञकर्ता के उद्देश्यों को पूर्ण करते हैं। इस प्रकार जो ऐश्वर्य प्राप्त होता है, उसके मुख्य अंग 'गौ' और 'अश्व' हैं; पर इन के अतिरिक्त और भी हैं, हिरण्य [सोना], वीर [मनुष्य या शूर वीर], रथ [सवारी करने का रथ], प्रजा या अपत्य [औलाद]। यज्ञ के साधनों को भी, अग्नि को, सोम को, घृत को, देवता देते हैं और वे यज्ञ में इस के पुरोहित, पवित्रता-कारक, सहायक बनकर उपस्थित होते हैं, तथा यज्ञ में होनेवाले संग्राम में वीरों का काम करते हैं,- क्योंकि कुछ शक्तियां ऐसी होती हैं, जो यज्ञ तथा मन्त्र से घृणा करती हैं, यज्ञकर्ता पर आक्रमण करती हैं और उसके अभीप्सित ऐश्वर्यों को उस से जबर्दस्ती छीन लेती या उसके पास पहुंचने से रोके रखती हैं। ऐसी उत्कण्ठा से जिस ऐश्वर्य की कामना की जाती है, उसकी मुख्य बातें हैं उषा तथा सूर्य का उदय होना और द्युलोक की वर्षा का और सात नदियों- भौतिक या रहस्यमय- [जिन्हें कि वेदमें द्युलोक की शक्तिशालिनी वस्तुयें, दिवो यह्वीः कहा गया है] का नीचे आना। पर यह ऐश्वर्य भी, गौओं की, घोडों की, सोने की, मनुष्यों की, रथों की, सन्तान की यह परिपूर्णता भी अपने आप में अन्तिम उद्देश्य नहीं है; यह सब एक साधन है दूसरे लोकों को खोल देने का, 'स्वः' को अधिगत कर लेने का, सौर लोकोंमें आरोहण करने का, सत्य के मार्गद्वारा उस ज्योति को और उस स्वर्गीय सुख को पा लेने का जहां मर्त्य अमरता में पहुंच जाता है।

यह है वेद का असंदिग्ध सारभूत तत्व। कर्मकाण्ड-परक और गाथापरक अभिप्राय, जो इस के साथ बहुत प्राचीन काल से जोड़ा जा चुका है, बहुत प्रसिद्ध है और उसे विशेष रूप से यहां वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। संक्षेपमें, यह यज्ञिय पूजाका अनुष्ठान है, जिसे मनुष्य का मुख्य कर्तव्य माना गया है और इस में दृष्टि यह है कि इस से इह-लोक में धन-दौलत का उपभोग प्राप्त होगा और यहां के बाद परलोक में स्वर्ग मिलेगा। इस संबंध में हम आधुनिक दृष्टिकोण को भी जानते हैं, जिसके अनु-सार, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, उषा, वायु, वर्षा, अग्नि, आकाश

नदियों तथा प्रकृति की अन्य शक्तियों को सजीव देवता मानकर उन की पूजा करना, यज्ञ के द्वारा इन देवताओं को प्रसन्न करना, इस जीवन में मानव और द्राविड शत्रुओं से और प्रतिपक्षी दैत्यों तथा मर्त्य लुटेरों का मुकाबला कर के धन-दौलत को जीतना और अपने अधिकार में रखना और मरने के बाद मनुष्य का देवों के स्वर्ग को प्राप्त कर लेना, बस यही वेद है। अब हम पाते हैं कि अतिसमान्य लोगों के लिये ये विचार चाहे कितने ही युक्तियुक्त क्यों न रहे हों, वैदिक युग के द्रष्टाओं के लिये, ज्ञान-ज्योति से प्रकाशित मनों [कवि, विप्र] के लिये ये वेद का आन्तरिक अभिप्राय नहीं थे। उनके लिये तो ये भौतिक पदार्थ किन्हीं अभौतिक वस्तुओं के प्रतीक थे, 'गौएं' दिव्य उषा की किरणें या प्रभाएं थीं 'घोड़े' और 'रथ' शक्ति तथा गति के प्रतीक थे, 'सुवर्ण' था, प्रकाश, एक दिव्य सूर्य की प्रकाशमय संपत्ति- सच्चा प्रकाश, "ऋतं ज्योतिः," यज्ञ से प्राप्त होनेवाली धन-संपत्ति और स्वयं यज्ञ ये दोनों अपने सब अङ्ग-उपाङ्गोंके साथ, एक उच्चतर उद्देश्य-अमरता की प्राप्ति-के लिये मनुष्यका जो प्रयत्न है और उसके जो साधन हैं, उन के प्रतीक थे। वैदिक द्रष्टा की अभीप्सा थी मनुष्य के जीवन को समृद्ध बनाना और उस का विस्तार करना, उस के जीवन-यज्ञ में विविध दिव्यत्व को जन्म देना और उस का निर्माण करना, उन दिव्यत्वों की शक्तिभूत जो बल, सत्य, प्रकाश आनन्द आदि हैं, उनकी वृद्धि करना जबतक कि मनुष्यका आत्मा अपनी सत्ता के परिवर्धित और उत्तरोत्तर खुलते आनेवाले लोकों में से होता हुआ ऊपर न चढ जाये, जबतक वह यह न देख ले कि दिव्य द्वार [देवीर्द्वारः] उसकी पुकार पर खुलकर झूलने लगते हैं और जबतक वह उस दिव्य सत्ता के सर्वोच्च आनन्द के अन्दर प्रविष्ट न हो जाय जो द्यौ और पृथिवी से परे का है। यह ऊर्ध्व-आरोहण ही अङ्गिरस ऋषियों की रूपककथा है।

वैसे तो सभी देवता विजय करनेवाले और गौ, अश्व तथा दिव्य ऐश्वर्यों को देनेवाले हैं, पर मुख्य रूप से यह महान् देवता इन्द्र है, जो इस संग्राम का वीर और योद्धा है और जो मनुष्य के लिये प्रकाश तथा शक्ति को जीत कर देता है। इस कारण इन्द्र को निरन्तर गौओंका स्वामी 'गोपति,' कहकर संबोधित किया गया है; उस का ऐसा भी आलङ्कारिक वर्णन आता है कि, वह स्वयं गौ और घोडा है; वह अच्छा दोग्धा है, जिस की कि ऋषि दुहने के लिये कामना करते हैं और जो कुछ वह दुहकर देता है, वे हैं पूर्णरूप और अन्तिम विचार; वह 'वृषभ' है गौओं का सांड है; गौओं और घोडों की वह संपत्ति जिस के लिये मनुष्य इच्छा करता है, उसीकी है। ६.२८.५ में यह कहा भी है- 'हे मनुष्यो! ये जो गौएं हैं, वे इन्द्र हैं; इन्द्र को ही मैं अपने हृदय से और मनसे चाहता हूं। * 'गौओं और इन्द्र की यह एकत्मता महत्व की है और हमें इस पर फिर लौटकर आना होगा, जब हम इन्द्र को कहे मधुच्छन्दस् के सूक्तों पर विचार करेंगे।

पर साधारणतया ऋषि इस ऐश्वर्य की प्राप्ति का इस तरह अलंकार खींचते हैं कि यह एक विजय है, जो कि कुछ शक्तियों के मुकाबले में की गई है, वे शक्तियां 'दस्यु' हैं, जिन्हें कहीं इस रूपमें प्रकट किया गया है कि, वे अभीप्सित ऐश्वर्योंको अपने कब्जेमें किये होते हैं, जिन ऐश्वर्यों को फिर उनसे छीनना होता है और कहीं इस रूपमें वर्णन है कि, वे उन ऐश्वर्यों को आर्यों के पास से चुराते हैं और तब आर्यों को देवों की सहायता से उन्हें खोजना और फिर से प्राप्त करना होता है। इन दस्युओं को जो कि गौओं को अपने कब्जे में किये होते हैं या चुरा कर ले जाते हैं 'पणि' कहा गया है। इस 'पणि' शब्द का मूल अर्थ कर्ता, व्योहारी या व्यापारी रहा प्रतीत होता है, पर इस अर्थ को कभी-कभी इस से जो और दूर का 'कृपण' का भाव प्रकट होता है, उसकी रंगत दे दी जाती है। उन पणियों का मुखिया है 'वल' एक दैत्य जिस के नाम से संभवतः 'चारों ओर से घेर लेनेवाला' या 'अन्दर बन्द कर लेनेवाला' यह अर्थ निकलता है, जैसे 'वृत्र' का अर्थ होता है प्रतिपक्षी, विघ्न डालनेवाला या सब ओर से बन्द करके छिपा देनेवाला।

यह सलाह देना बडा आसान है कि, पणि तो द्राविडी-लोग हैं और 'वल' उनका सरदार या देवता है, जैसा कि वे विद्वान् जो वेद में प्रारंभिक से प्रारंभिक इतिहासको

---

* इमा या गावः सजनास इन्द्रः, इच्छामि-हृद्-हृदा मनसा चिदिन्द्रम्।

पढ़ने की कोशिश करते हैं, कहते भी हैं। पर यह आशय जुदा करके देखे गये सन्दर्भों में ही ठीक ठहराया जा सकता है; अधिकतर सूक्तों में तो ऋषियों के वास्तविक शब्दों के साथ इसकी संगति ही नहीं बैठती और इससे उनके प्रतीक तथा अलंकार तुमायशी निरर्थक बातों के एक गड़बड़ मिश्रण से दीखने लगते हैं। इस असंगति में की कुछ बातोंको हम पहले ही देख चुके हैं; यह हमारे सामने अधिकाधिक स्पष्ट होती चलेगी, ज्यों ज्यों हम खोई हुई गौओं के कथानक की ओर अधिक नजदीक से परीक्षा करेंगे।

'वल' एक गुफा में, पहाड़ों की कन्दरा (बिल) में रहता है; इन्द्र और अङ्गिरस ऋषियों को उसका पीछा करके वहां पहुंचना है और उसे अपनी दौलतको छोड़ देनेके लिये बाध्य करना है; क्योंकि वह गौओं का 'वल' है- 'वलं गोमन्तम्'। पणियों को भी इसी रूप में निरूपित किया गया है कि, वे चुराई हुई गौओंको पहाड़ की एक गुफा में छिपा देते हैं, जो उनका छिपाने का कारागार 'वव्र,' या गौओं का बाड़ा, 'व्रज,' कहलाता है या कभी कभी सार्थक मुहावरे में उसे, 'गव्यम् ऊर्वम्' कह दिया जाता है, जिसका शाब्दिक अर्थ है, 'गौओंका विस्तार' या यदि 'गो' का दूसरा भाव लें, तो "ज्योतिर्मय विस्तार," जगमगाती गौओं की विस्तृत सम्पत्ति। इस खोई हुई सम्पत्तिको फिरसे पा लेनेके लिये 'यज्ञ' करना पड़ता है; अङ्गिरस या बृहस्पति और अङ्गिरस सच्चे शब्द का, मन्त्र का, गान करते हैं; सरमा, स्वर्ग की कुतिया, ढूँढ कर पता लगाती है कि, गौएं पणियों की गुफा में हैं; सोम-रस से बली हुआ इन्द्र और उसके साथी द्रष्टा अङ्गिरस पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए गुफा में जा घुसते हैं, या बलात् पहाड़ के मजबूत स्थानों को तोड़ कर खोल देते हैं, पणियोंको हराते हैं और गौओं को छुड़ा कर ऊपर हांक ले जाते हैं।

पहले हम इससे सम्बन्ध रखनेवाली कुछ उन बातोंको ध्यान में ले आयें, जिनकी कि उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये। जब कि हम इस रूपक या कथानक का असली अभिप्राय निश्चित करना चाहते हैं। सबसे पहली बात यह कि यह कथानक अपने रूपवर्णनों में चाहे कितना यथार्थ क्यों न हो, तो भी वेद में यह एक निरी गाथात्मक परम्परामात्र नहीं है, बल्कि इसका प्रयोग एक स्वाधीनता और तरलताके साथ हुआ है, जिससे कि पवित्र परम्पराके पीछे छिपा हुआ इसका सार्थक अलंकारिक रूप दिखाई देने लगता है। बहुधा वेद में इस पर से इस का गाथात्मक रूप उतार डाला गया है और इसे मन्त्र-गायक की वैयक्तिक आवश्यकता या अभीप्सा के अनुसार प्रयुक्त किया गया है। क्योंकि यह एक क्रिया है, जिसे इन्द्र सदैव कर सकने में समर्थ है; यद्यपि वह इसे एक बार हमेशा के लिये नमूने के रूप में अङ्गिरसों के द्वारा कर चुका है, फिर भी वह वर्तमान में भी इस नमूने को लगातार दोहराता है, वह निरन्तर गौओं को खोजनेवाला (गवेषणा) है और इस चुराई हुई सम्पत्ति को फिर से पा लेनेवाला है।

कहीं हम केवल इतना ही पाते हैं कि, गौएं चुराई गईं और इन्द्रने उन्हें फिर से पा लिया; सरमा, अङ्गिरस या पणियों का कोई उल्लेख नहीं होता। पर सर्वदा यह इन्द्र ही नहीं होता, जो कि गौओं को फिर से छुड़ा कर लाता है। उदाहरण के लिये, हमारे पास अग्निदेवता का एक सूक्त है, पंचम मण्डल का दूसरा सूक्त, जो अत्रियोंका है। इसमें गायक चुराई हुई गौओं के अलंकार को खुद अपनी ओर लगाता है, ऐसी भाषा में जो इस के प्रतीकात्मक होनेके रहस्य को स्पष्ट तौर से खोल देती है।

'अग्नि' को बहुत काल तक माता पृथ्वी भींच कर अपने गर्भ में छिपाये रहती है, वह उसे उसके पिता द्यौको नहीं देना चाहती; वहां वह तब तक छिपा पड़ा रहता है, जब तक कि वह माता सीमित रूप में संकुचित रहती है (पेषी), अन्त में जब वह बड़ी और विस्तीर्ण (महिषी) हो जाती है, तब उस अग्नि का जन्म होता है। × अग्निके इस जन्म का सम्बन्ध चमकती हुई गौओं के प्रकट होने या दर्शन होने के साथ दिखाया गया है। मैंने दूर पर एक खेत में एक को देखा, जो अपने शस्त्रों को तैयार कर रहा था, जिसके दांत सोने के थे, रंग साफ चमकीला था, मैंने

× कुमारं माता युवतिः समुब्धं गुहा बिभर्ति न ददाति पित्रे ... ५.२.१ कमेतं त्वं युवते कुमारं पेषी बिभर्षि महिषी जजान। ५.२.२

उसे पृथक्-पृथक् हिस्सों में अमृत [अमर रस, सोम] दिया; वे मेरा क्या कर लेंगे जिनके पास इन्द्र नहीं है और जिनके पास स्तोत्र नहीं है ?

मैंने उसे खेत में देखा, जैसे कि यह एक निरन्तर विचरता हुआ, बहुरूप, चमकता हुआ सुखी गाओं का झुण्ड हो; उन्होंने उसे पकडा नहीं, क्योंकि 'वह ' पैदा हो गया था, वे [गौएं] भी जो बूढी थीं, फिरसे जवान हो जाती हैं ×। ' परन्तु यदि इस समय ये दस्यु जिनके पास न इन्द्र है और न स्तोत्र है, इन चमकती हुई गौओं को पकडने में अशक्त हैं, तो इससे पहले वे सशक्त थे जब कि यह चमकीला और जबर्दस्त दैवत्व उत्पन्न नहीं हुआ था। 'वे कौन थे, जिन्होंने मेरे बलको [मर्यकम्; मेरे मनुष्यों के समुदाय को, मेरे वीरों को] गौओं से अलग किया ? क्योंकि उन [मेरे मनुष्यों] के पास कोई योद्धा और गौओं का रक्षक नहीं था। जिन्होंने मुझ से उन को लिया है, वे उन्हें छोड दें, वह जानता है और पशुओं को हमारे पास हांकता हुआ आ रहा है +। "

हम उचित रूप से प्रश्न कर सकते हैं कि, ये चमकनेवाले पशु क्या हैं, ये गौएं कौन हैं जो पहले बूढी थीं और फिर से जवान हो जाती हैं ? निश्चित ही वे भौतिक गौएं नहीं हैं, नहीं यह खेत कोई यमुना या जेहलम के पासका पार्थिव खेत है, जिस में कि ऋषि को सोने के दांतोंवाले योद्धा देवका और चमकनेवाले पशुओंका भव्य दर्शन हुआ है। वे हैं या तो भौतिक उषा की या दिव्य उषा की गौएँ, पर इन में से पहला अर्थ लें, तो भाषा ठीक नहीं जंचती है; सो यह रहस्यमय दर्शन निश्चित रूप से दिव्य प्रकाश का दर्शन है, जिसे कि यहां आलंकारिक रूप से वर्णित किया गया है। वे [गौएं] हैं, ज्योतियाँ जिन्हें कि अन्धकार की शक्तियोंने चुरा लिया था और जो अब फिर से दिव्य रूप में प्राप्त कर ली गई हैं, भौतिक अग्नि के देवताद्वारा नहीं, बल्कि जाज्वल्यमान शक्ति [अग्निदेव] के द्वारा जो कि पहले भौतिक सत्ता की क्षुद्रता में छिपी पडी थी और अब उस से मुक्त होकर प्रकाशमय मानसिक क्रिया की निर्मलताओं में प्रकट होती है।

तो केवल इन्द्र ही ऐसा देवता नहीं है, जो इस अन्धकारमयी गुफा को तोड सकता है और खोई हुई ज्योतियों को फिर से ला सकता है। और भी कई देवता हैं, जिनके साथ भिन्न भिन्न सूक्तोंमें इस महान् विजयका संबंध जोडा गया है। उषा उन में से एक है, वह दिव्य उषा जो इन गौओं की माता है। " सच्चे देवों के साथ जो सच्ची है, महान् देवों के साथ महान् है, यज्ञिय देवोंके साथ यज्ञिय दैवत्ववाली है, वह दृढ स्थानों को तोडकर खोल देती है, वह चमकीली गौओं को दे देती है; गौएं उषा के प्रति रंभाती हैं ❦। " अग्नि एक दूसरा है, कभी वह स्वयं अकेला युद्ध करता है, जैसे कि हम पहले देख चुके है, और कभी इन्द्रके साथ मिलकर जैसे- ' हे इन्द्र, हे अग्नि, तुम दोनोंने गौओंके लिये युद्ध किया है [६.६०.२]' ❁ या फिर सोम के साथ मिलकर जैसे,- ' हे अग्नि और सोम ! वह तुम्हारी वीरता ज्ञात हो गई थी, जब कि तुमने पणियों से गौओं को लूटा था। [१९३ ४]। ' ०

सोम का संबंध एक दूसरे संदर्भ में इस विजयके लिये इन्द्र के साथ जोडा गया है; ' इस देव [सोम] ने शक्ति

× हिरण्यदन्तं शुचिवर्णमारात् क्षेत्रादपश्यमायुधा मिमानम्।
ददानो अस्मा अमृतं विपृक्वत् किं मामनिन्द्राः कृणवन्ननुक्थाः ॥
क्षेत्रादपश्यं सनुतश्चरन्तं सुमद्यूथं न पुरु शोभमानम्।
न ता अगृभ्रन्नजनिष्ट हि षः पलिक्नीरिद्युवतयो भवन्ति ॥ ५.२.३,४

+ के मे मर्यकं वि यवन्त गोभिर्न येषां गोपा अरणश्चिदास।
य ईं जगृभुरव ते सृजन्त्वाजाति पश्व उप नश्चिकित्वान् ॥ ५.२.५

❦ सत्या सत्येभिर्महती महद्भिर्देवी देवेभिर्यजता यजत्रैः।
रुजद् दृळ्हानि ददुस्रियाणां प्रति गाव उषसं वावशन्त ॥ ७.७५.७

❁ ता योधिष्टमभि गाः।

० अग्नीषोमा चेति तद्वीर्यं वां यदमुष्णीतमवसं पणिं गाः।

से उत्पन्न होकर, अपने साथी इन्द्र के साथ पणियों को ठहराया + ' और दस्युओं के विरुद्ध लडते हुए देवोंके सब वीरतापूर्ण कार्योंको किया [६.४४.२२,२३,२४]। ६.६२. ११ में अश्विनों को भी इस कार्यसिद्धि को करने का गौरव दिया गया है– ' तुम दोनों गौओंसे परिपूर्ण मजबूत बाडेके दरवाजों को खोल देते हो ॐ। ' और फिर १.११२.१८ में फिर कहा है, ' हे अङ्गिर ! [युगल अश्विनों को कभी–कभी इस एकत्ववाची नाम में संगृहीत कर दिया जाता है] तुम दोनों मन के द्वारा आनन्द लेते हो और तुम सब से पहले गौओं की धारा– गोअर्णसः– के विवर में प्रवेश करते हो, ' ~ ' गो-अर्णसः ' का अभिप्राय स्पष्ट है कि प्रकाश की उन्मुक्त हुई, उमडती हुई धारा या समुद्र।

बृहस्पति और भी अधिकतर इस विजय का महारथी है। ' बृहस्पतिने, जो सर्व प्रथम परम व्योम में महान् ज्योति में से पैदा हुआ, जो सात मुखोंवाला है, बहुजात है, सात किरणोंवाला है, अन्धकारको छिन्नभिन्न कर दिया; उसने स्तुभ् और ऋक् को धारण करनेवाले अपने गण के साथ, अपनी गर्जनाद्वारा ' वल ' के टुकडे-टुकडे कर दिये। गर्जता हुआ बृहस्पति हव्य को प्रेरित करनेवाली चमकीली गौओं को ऊपर हांक ले गया और वे गौएं प्रत्युत्तर में रंभाईं, [४.५०.४,५] × ' और ६.७३.१ और ३ में फिर कहा है, ' बृहस्पति जो पहाडी [अद्रि] को तोडनेवाला है, सबसे पहले उत्पन्न हुआ है, आंगिरस है... उस बृहस्पतिने खजानों को [वसूनि] जीत किया, इस देवने गौओं से भरे हुए बडे-बडे बाडों को जीत लिया ※। ' मरुत् भी जो कि बृहस्पति की तरह ऋक् के गायक हैं, इस दिव्य क्रिया में संबंध रखते हैं, यद्यपि अपेक्षाकृत कम साक्षात् रूपसे। ' वह, जिसका हे मरुतो ! तुम पालन करते हो, बाडे को तोडकर खोल देगा + [६.६६.८] '। और एक दूसरे स्थानपर मरुतों की गौएं सुनने में आती हैं [१.३८.२ ॐ]।

पूषा का भी, जो कि पुष्टि करनेवाला है, सूर्य देवता का एक रूप है, आवाहन किया गया है कि, वह चुराई हुई गौओं का पीछा करे और उन्हें फिर से ढूंढकर लाये, [६.५४]– ' पूषा हमारी गौओं के पीछे-पीछे जाये, पूषा हमारे युद्ध के घोडों की रक्षा करे (५) ... हे पूषन्, तूं गौओंके पीछे जा (६)... जो खो गया था, उसे फिरसे हमारे पास हाँककर ला दे (१०) ++। ' सरस्वती भी पणियों का वध करनेवाली के रूप में आती है। और मधुच्छन्दस् के सूक्त (१.११.५) में हमें अद्भुत अलंकार मिलता है, ' ओ वज्र के देवता, तूने गौओंवाले वल की गुफा को खोल दिया; देवता निर्भय होकर शीघ्रतासे गति करते हुए (या अपनी शक्ति को व्यक्त करते हुए) तेरे अन्दर प्रविष्ट हो गये ××। '

क्या इन सब विभिन्न वर्णनों में कुछ एक निश्चित अभिप्राय निहित है, जो इन्हें परस्पर इकट्ठा करके एक संगतिमय

+ अयं देवः सहसा जायमान इन्द्रेण युजा पणिमस्तभायत्। ६.४४.२२

ॐ दृळ्हस्य चिद् गोमतो वि व्रजस्य दुरो वर्तम्।

~ याभिरङ्गिरो मनसा निरण्यथोऽग्रं गच्छथो विवरे गो-अर्णसः।

× बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्।
सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत्तमांसि॥
स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन वलं रुरोज फलिगं रवेण।
बृहस्पतिरुस्रिया हव्यसूदः कनिक्रदद् वावशतीरुदाजत्॥

※ यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान्। ...
बृहस्पतिः समजयद् वसूनि महो व्रजान् गोमतो देव एषः। ... ६.७३.१,३

+ मरुतो यमवथ... स व्रजं दर्ता।

ॐ क्व वो गावो न रण्यन्ति।

++ पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्वर्वतः (५). ... पूषन्नु प्र गा इहि (६). ... पुनर्नो नष्टमाजतु (१०)

×× त्वं वलस्य गोमतोऽपावरद्रिवो बिलम्। त्वां देवा अबिभ्युषस्तुज्यमानास आविषुः॥

विचार के रूप में परिणत कर देना, अथवा यह बिना किसी नियम के यूं ही हो गया है कि, ऋषि अपने खोये हुए पशुओं को ढूंढने के लिये और युद्ध कर के उन्हें फिर से पाने के लिये कभी इस देवता का आवाहन करने लगते हैं और कभी उस देवता का ? बजाय इस के कि हम वेद के अंशों को पृथक् पृथक् लेकर उन के विस्तार में अपने आप को भटकायें, यदि हम वेद के विचारों को एक संपूर्ण अवयवी के रूप में लेना स्वीकार करें, तो हमें इस का बड़ा सीधा और सन्तोषप्रद उत्तर मिल जायगा। खोई हुई गौओं का यह वर्णन परस्परसंबद्ध प्रतीकों और अलंकारों के पूर्ण संस्थान का अंगमात्र है।

वे गौएं यज्ञ के द्वारा फिर से प्राप्त होती हैं और आग का देवता अग्नि इस यज्ञ की ज्वाला है, शक्ति है और पुरोहित है,— मंत्र (स्तोत्र) के द्वारा प्राप्त होती हैं और बृहस्पति इस मंत्र का पिता है, मरुत् इस के गायक या ब्रह्मा हैं, (ब्रह्माणो मरुतः), सरस्वती इस की अन्तः-प्रेरणा है;- रसद्वारा प्राप्त होती हैं और सोम इस रस का देवता है, तथा अश्विन इस रसके खोजनेवाले, पालेने-वाले, देनेवाले और पीनेवाले हैं। गौएं प्रकाश की गौएं हैं और प्रकाश उषाद्वारा आता है, या सूर्यद्वारा आता है, जिस सूर्य का कि पूषा एक रूप है और अन्तिम यह कि, इन्द्र इन सब देवताओं का मुखिया है, प्रकाश का स्वामी है, 'स्वः' कहानेवाले ज्योतिर्मय लोक का अधिपति है,- हमारे कथनानुसार यह प्रकाशमय या दिव्य मन है; उस के अन्दर सब देवता प्रविष्ट होते हैं और छिपे हुए प्रकाश को खोल देने के उस के कार्य में हिस्सा लेते हैं।

इसलिये हम समझ सकते हैं कि, इस में पूर्ण औचित्य है कि, एक ही विजय के साथ इन भिन्न भिन्न देवताओं का सम्बन्ध बताया गया है और मधुच्छन्दस् के आलंका-रिक वर्णन में इन देवताओं के लिये यह कहा गया है कि, ये 'वल' पर प्रहार करने के लिये इन्द्र के अन्दर प्रविष्ट हो जाते हैं। कोई भी बात बिना किसी निश्चित विचार के यूं ही अटकलपच्चू से या विचारों की एक गडबड अस्थिरता के वशीभूत होकर नहीं कही गई है। वेद अपने वर्णनों की संगति में और अपनी एकवाक्यता में पूर्ण तथा सुरम्य है।

इस के अतिरिक्त, यह जो प्रकाश को विजय करके लाना है, वह वैदिक यज्ञ की महान् क्रिया का केवल एक अंग है। देवताओं को इस यज्ञ के द्वारा उन सब वरों को (विश्वा वारा) जीतना होता है, जो कि अमरता की विजय के लिये आवश्यक हैं और छिपे हुए प्रकाशों का आविर्भाव करना केवल इन में से एक वर है। शक्ति, 'अश्व,' भी वैसी ही आवश्यक है जैसा कि, प्रकाश, 'गौ'; केवल इतना ही आवश्यक नहीं है कि, 'वल' के पास पहुंचा जाय और उस के जबर्दस्त पञ्जे से प्रकाश को जीता जाय, वृत्र का वध करना और जलों को मुक्त करना भी आवश्यक है; चमकती हुई गौओं के आविर्भाव का अभिप्राय है, उषा का और सूर्य का उदय होना; यह फिर अधूरा रहता है, बिना यज्ञ, अग्नि और सोम-रस के। ये सब वस्तुयें एक ही क्रिया के विभिन्न अंग हैं, कहीं इन का वर्णन जुदा-जुदा हुआ है. कहीं वर्गों में, कहीं सब को इकट्ठा मिला कर इस रूप में कि मानो यह एक ही क्रिया है, एक महान् पूर्ण विजय है। और उन्हें अधिगत कर लेने का परिणाम यह होता है कि, बृहत् सत्य का आविर्भाव हो जाता है और 'स्वः' की प्राप्ति हो जाती है, जो कि, ज्योतिर्मय लोक है और जिसे जगह जगह 'विस्तृत दूसरा लोक,' उरुम् उ लोकम्, या केवल 'दूसरा लोक,' उ लोकम्, कहा है। पहले हमें इस एकता को अच्छी तरह हृदयंगम कर लेना चाहिये यदि हम ऋग्वेद के विविध संदर्भों में आनेवाले इन प्रतीकों का पृथक् पृथक् परिचय समझना चाहते हैं।

इस प्रकार ६.७३ में जिस का हम पहले भी उल्लेख कर चुके हैं, हम तीन मन्त्रों का एक छोटासा सूक्त पाते हैं जिस में ये प्रतीक-शब्द संक्षेप में अपनी एकता के साथ इकट्ठे रखे हुए हैं; इसके लिये यह भी कहा जा सकता है कि, यह वेद के उन स्मारक सूक्तों में से एक है, जो वेद के अभिप्राय की और इसके प्रतीकवाद की एकताको स्मरण कराते रहने का काम करते हैं।

"वह जो पहाडीको तोडनेवाला है, सबसे पहले उत्पन्न हुआ, सत्य से युक्त, बृहस्पति जो आंगिरस है, हवि को देनेवाला है, दो लोकों में व्याप्त होनेवाला, (सूर्य के)

साप और प्रकाश में रहनेवाला, हमारा पिता है, वह वृषभ की तरह दो लोकों (द्यावापृथिवी) में जोर से गर्जता है (१) बृहस्पति, जिसने कि यात्री मनुष्य के लिये, देवताओं के आवाहन में, उस दूसरे लोक को रचा है, वृत्र-शक्तियों का हनन करता हुआ नगरोंको तोडकर खोल देता है, शत्रुओं को जीतता हुआ और अमित्रों का संग्रामों में पराभव करता हुआ (२)। बृहस्पति उस के लिये खजानों को जीतता है, यह देव गौओं से भरे हुए बडे-बडे बाडों को जीत लेता है, ' स्वः ' के लोक की विजय को चाहता हुआ, अपराजेय, बृहस्पति प्रकाशके मन्त्रोंद्वारा (अर्कैः) शत्रुका वध कर देता है (३) ✍ । ' एक साथ यहां हम इस अनेकमुख प्रतीकवाद की एकताको देखते हैं।

एक दूसरे स्थल में जिस की भाषा अपेक्षाकृत अधिक रहस्यमय है, उषा के विचार का और सूर्य के लुप्त प्रकाश की पुन: प्राप्ति या नूतन उत्पत्ति का वर्णन आता है, जिस का कि बृहस्पति के संक्षिप्त सूक्त में स्पष्ट तौरसे जिक्र नहीं आ सका है। यह सोम की स्तुति में है, जिस का प्रारंभिक वाक्य पहले भी उद्धृत किया जा चुका है, (६.४४.२२) " इस देव (सोम) ने शक्तिद्वारा पैदा होकर अपने साथी इन्द्रके साथ पणि को ठहराया; इसीने अपने अशिव पिता (विभक्त सत्ता) के पास से युद्ध के हथियारों को और ज्ञानके रूपोंको (मायाः) छीना ।२२। इसीने उषाओं को शोभन पतिवाला किया, इसीने सूर्य के अन्दर ज्योति को रचा, इसीने द्युलोक में- इसके दीप्यमान प्रदेशों (स्वः के तीन लोकों) में- (अमरत्व के) त्रिविध तत्त्व को, और त्रिविभक्त लोकों में छिपे हुए अमरत्व को पाया (वह अमृत का पृथक्-पृथक् हिस्सों में देना है, जिस का कि अग्नि के अग्नि को संबोधित किये गये सूक्त में वर्णन आया है, सोम का त्रिविध हव्य है जो कि तीन स्तरोंपर, ' त्रिषु सानुषु, ' शरीर प्राण और मनपर दिया गया है)। २३। इसीने द्यावापृथिवी को थामा, इसीने सात रश्मियोंवाले रथ को जोडा। इसीने अपनी शक्ति के द्वारा (मधु या घृत के) पके फल को गौओं में रखा और दस गतियोंवाले स्रोत को भी + ।"

यह मुझे सचमुच बडी हैरानी की बात लगती है कि, इतने सारे तेज और आला दिमाग ऐसे सूक्तों को कैसे किये हैं, पढ गये और उन्हें यह समझ में न आया कि, ये प्रतीकवादियों और रहस्यवादियों की पवित्र, धार्मिक कवितायें हैं, न कि प्रकृतिपूजक जंगलियों के गीत या उन असभ्य आर्यन आक्रान्ताओं के जो कि सभ्य और वेदान्तिक द्रविडियों से लड रहे थे।

अब हम शीघ्रताके साथ कुछ दूसरे स्थलों को देख जायँ जिन में कि, इन प्रतीकों का अपेक्षाकृत अधिक बिखरा हुआ संकलन पाया जाता है। सब से पहले हम यह पाते हैं कि, पहाडी में बने हुए गुफारूपी बाडे के इस अलंकार में गौ और अश्व इकट्ठे आते हैं, जैसे कि अन्यत्र भी हम यही बात देखते हैं। यह हम देख चुके हैं कि, पूषा को पुकारा गया है कि, वह गौओं को खोज कर लाये और

✍ यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान्।
द्विबर्हज्मा प्राघर्मसत् पिता न आ रोदसी वृषभो रोरवीति ॥ १॥
जनाय चिद् य ईवत उ लोकं बृहस्पतिर्देवहूतौ चकार।
घ्नन् वृत्राणि वि पुरो दर्दरीति जयञ्छत्रूँरमित्रान् पृत्सु साहन् ॥ २॥
बृहस्पतिः समजयद् वसूनि महो व्रजान् गोमतो देव एषः।
अपः सिषासन्त्स्वरप्रतीतो बृहस्पतिर्हन्त्यमित्रमर्कैः ॥ ३॥ (६.७३.१,२,३.)

+ अयं देवः सहसा जायमान इन्द्रेण युजा पणिमस्तभायत्।
अयं स्वस्य पितुरायुधानीन्दुरमुष्णादशिवस्य मायाः ॥ २२॥
अयमकृणोदुषसः सुपत्नीरयं सूर्ये अदधाज्ज्योतिरन्तः।
अयं त्रिधातु दिवि रोचनेषु त्रितेषु विन्ददमृतं निगूळ्हम् ॥ २३॥
अयं द्यावापृथिवी विष्कभायदयं रथमयुनक् सप्तरश्मिम्।
अयं गोषु शच्या पक्वमन्तः दाधार दशयन्त्रमुत्सम् ॥ २४॥ (६-४४ २२।२४)

घोडों की रक्षा करे। आर्यों की संपत्तिके ये दो रूप हमेशा लुटेरों ही की दया पर ? पर आइये, हम देखें। "इस प्रकार सोम के आनन्द में आकर तूने, ओ वीर (इंद्र)! गाय और घोडे के बाडे को तोड कर खोल दिया, एक नगर की न्याई (८. ३२. ५) ×। हमारे लिये तू बाडे को तोड कर सहस्रों गायों और घोडों को खोल दे। (८. ३४. १४) + "। "हे इंद्र ! तू जिस गौ, अश्व और अविनश्वर सुख को धारण करता है, उसे तू यज्ञकर्ता के अन्दर स्थापित कर, पणि के अन्दर नहीं, उसे जो नींद में पडा है, कर्म नहीं कर रहा है और देवों को नहीं ढूढ रहा है, अपनी ही चालों से मरने दे; उस के पश्चात् (हमारे अन्दर) निरन्तर ऐश्वर्य को रख जो अधिकाधिक पुष्ट होते जानेवाला हो, (८. ९७-२, ३) *"।

एक दूसरे मंत्र में पणियों के लिये कहा गया है कि, वे गौ और घोडों की संपत्ति को रोक रखते हैं, अवरुद्ध रखते हैं। हमेशा ये वे शक्तियां होती हैं, जो अभीप्सित संपत्ति को पा तो लेती हैं, पर इसे काम में नहीं लातीं, नींदमें पडे रहना पसंद करती हैं, दिव्य कर्म (व्रत) की उपेक्षा करती हैं और ये ऐसी शक्तियां हैं, जिन्हें अवश्य नष्ट हो जाना या जीत लिया जाना चाहिये, इस से पहले कि, संपत्ति सुरक्षित रूप से यज्ञकर्ता के हाथ में आ सके और हमेशा ये 'गौ' और 'घोडे' उस संपत्ति को सूचित करते हैं, जो छिपी पडी है और कारागारमें बन्द है और जो किसी दिव्य पराक्रम के द्वारा खोले जाने तथा कारागार से छुडाये जाने की अपेक्षा रखती है।

चमकनेवाली गौओं की इस विजय के साथ उषा और सूर्य की विजय का या उन के जन्म होने का अथवा प्रकाशित होने का भी सम्बन्ध जुडा हुआ है, पर यह एक ऐसा विषय चल पडता है, जिस के अभिप्राय पर हमें एक दूसरे अध्याय में विचार करना होगा और गौओं, उषा तथा सूर्य के साथ सम्बन्ध जुडा हुआ है जलोंका; क्योंकि जलों के बन्धनमुक्त होनेके साथ वृत्र का वध होना और गौओं के बन्धनमुक्त होनेके साथ 'वल' का पराजित होना ये दोनों परस्पर सहचरी गाथायें हैं। ऐसी बात नहीं कि ये दोनों कथानक बिलकुल एक दूसरे से स्वतन्त्र हों और आपस में इनका कोई सम्बन्ध न हो। कुछ स्थलोंमें जैसे १.३२.४ में, हम यहांतक देखते हैं कि, वृत्र के वध को सूर्य, उषा और द्युलोक के जन्म का पूर्ववर्ती कहा गया है और इसी प्रकार कुछ अन्य सन्दर्भों में पहाडी के खुलने को जलों के प्रवाहित होने का पूर्ववर्ती समझा गया है। दोनों के सामान्य संबन्ध के लिये हम निम्न-लिखित संदर्भों पर ध्यान दे सकते हैं-

(७.९०-४) 'पूर्ण रूपसे जगमगाती हुई और अहिंसित उषायें खिल उठीं; ध्यान करते हुए उन्होंने (अंगिरसों ने) विस्तृत ज्योति को पाया; उन्होंने जो इच्छुक थे, गौओं के विस्तार को खोल दिया और उनके लिये द्युलोक से जल प्रस्रवित हुए। ०'

(१.७२.८) 'यथार्थ विचार के द्वारा द्युलोक की सात (नदियों) ने सत्य को जान लिया और सुख के द्वारों को जान लिया; सरमाने गौओं के दृढ विस्तार को ढूंढ लिया और उसके द्वारा मानवी प्रजा सुख भोगती है। ××'

(१.१००.१८) इन्द्र तथा मरुतों के विषयमें, 'उसने अपने चमकते हुए सखाओंके साथ क्षेत्र को अधिगत किया, सूर्य को अधिगत किया, जलों को अधिगत किया। ++'

× स गोरश्वस्य वि व्रजं मन्दानः सोम्येभ्यः। पुरं न शूर दर्षसि ॥

\+ आ नो गव्यान्यश्व्या सहस्रा शूर दर्दृहि।

* यमिन्द्र दधिषे त्वमश्वं गां भागमव्ययम्। यजमाने सुन्वति दक्षिणावति तस्मिन् तं धेहि मा पणौ ॥
य इन्द्र सस्त्यव्रतोऽनुष्वापमदेवयुः। स्वैः ष एवैर्मुमुरत् पोष्यं रयिं सनुतर्धेहि तं ततः ॥

० उच्छन्नुषसः सुदिना अरिप्रा उरु ज्योतिर्विविदुर्दीध्यानाः।
गव्यं चिदूर्वमुशिजो वि वव्रुस्तेषामनु प्रदिवः सस्रुरापः ॥

×× स्वाध्यो दिव आ सप्त यह्वी रायो दुरो व्यृतज्ञा अजानन्।
विदद् गव्यं सरमा दृळ्हमूर्वं येना नु कं मानुषी भोजते विट् ॥

++ सनत् क्षेत्रं सखिभिः श्वित्न्येभिः सनत् सूर्यं सनदपः सुवज्रः ॥

(५.१४.४) अग्निके विषयमें, ' अग्नि उत्पन्न होकर, दस्युओं का हनन करता हुआ, ज्योति से अन्धकार का हनन करता हुआ, चमकने लगा, उसने गौओं को, जलों को और स्वः को पा लिया । × '

(६.६०.२) इन्द्र और अग्निके विषय में, ' तुम दोनोंने युद्ध किया । गौओं के लिये, जलों के लिये, स्वः के लिये, उषाओं के लिये जो छिन गई थीं; हे इन्द्र ! हे अग्ने ! तू (हमारे लिये) प्रदेशों को, स्वः को, जगमगाती उषाओं को, जलों को और गौओं को एकत्र करता है । * '

(१.३२.१२) इन्द्रके विषयमें, ' ओ वीर ! तूने गौको जीता, तूने सोम को जीता; तूने सात नदियों को अपने स्रोत में बहने के लिये ढीला छोड दिया । + '

अन्तिम उद्धरणमें हम देखते हैं कि इन्द्र की विजित वस्तुओं के बीच में सोम भी गौओं के साथ जुडा हुआ है। प्रायशः सोमका मद ही वह शक्ति होती है, जिसमें भरकर इन्द्र गौओं को जीतता है; उदाहरण के लिये देखो— ३.४३.७, सोम ' जिसके मदमें तूने गौओं के बाडों को खोल दिया ; ० ' २.१५.८, ' उसने अङ्गिरसों से स्तुत होकर, ' वल ' को छिन्न-भिन्न कर दिया और पर्वत के दृढ स्थानों को उछाल फेंका; उसने इनकी कृत्रिम बाधाओं को अलग हटा दिया; ये सब काम इन्द्रने सोम के मदमें किये ×× । ' फिर भी, कहीं कहीं यह क्रिया उलट गई है और प्रकाश सोम-रस के आनन्द को लानेवाला हो गया है, अथवा ये दोनों एकसाथ आते हैं, जैसे १.६२.५ में " ओ कार्योंको पूर्ण करनेवाले ! अङ्गिरसों से स्तुति किये गये तूने उषा के साथ (या उषा के द्वारा), सूर्य के साथ (या सूर्यके द्वारा) और गौओंके साथ (या गौओंके द्वारा) सोम को खोल दिया ✍ । '

अग्नि भी, सोम की तरह, यज्ञ का एक अनिवार्य अंग है और इसलिये हम अग्नि को भी परस्पर संबन्ध प्रदर्शित करनेवाले इन सूत्रों में सम्मिलित हुआ पाते हैं, जैसे ७.९९.४ में, ' सूर्य, उषा और अग्निको प्रादुर्भूत करते हुए तुम दो ने विस्तृत दूसरे लोक को यज्ञ के लिये (यज्ञ के उद्देश्य के रूप में) रचा ** । ' और इसी सूत्र को हम ३.३१.१५ ++ में पाते हैं, फर्क इतना है कि, वहाँ इसके साथ ' मार्ग ' (गातु) और जुड गया है, और यही सूत्र ७.४४.३ ✱ में भी है, पर वहां इन के अतिरिक्त ' गौ ' का नाम अधिक है ।

इन उद्धरणों से यह प्रकट हो जायगा कि, वेद के भिन्न भिन्न प्रतीक और रूपक कैसी घनिष्ठता के साथ आपस में जुडे हुए हैं । और इसलिये हम वेद की व्याख्या के सच्चे रास्ते से चूक जायेंगे यदि हम अङ्गिरसों तथा पणियों के कथानक को इस रूपमें लेंगे कि यह एक औरों से अलग ही स्वतन्त्र कथानक है, जिस की हम अपनी मर्जीसे जैसी चाहें व्याख्या कर सकते हैं, बिना ही इस बात की विशेष सावधानी रखे कि, हमारी व्याख्या वेद के सामान्य विचार के साथ अनुकूल भी बैठती है, और बिना ही उस प्रकाशका ध्यान रखे जो कि प्रकाश वेदके इस सामान्य विचारद्वारा कथानक की उस आलंकारिक भाषा पर जिस में कि यह वर्णित की गई है, पडता है ।

× अग्निर्जातो अरोचत घ्नन् दस्यूञ्ज्योतिषा तमः । अविन्दद् गा अपः स्वः ॥

* ता योधिष्टमभि गा इन्द्र नूनमपः स्वरुषसो अग्न ऊळ्हाः ।
दिशः स्वरुषस इन्द्र चित्रा अपो गा अग्ने युवसे नियुत्वान् ॥

+ अजयो गा अजयः शूर सोममवासृजः सर्तवे सप्तसिन्धून् ।

० यस्य मदे अप गोत्रा ववर्थ ।

×× भिनद् वलमङ्गिरोभिर्गृणानो वि पर्वतस्य दृंहितान्यैरत् ।
रिणग्रोधांसि कृत्रिमाण्येषां सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार ॥

✍ गृणानो अङ्गिरोभिर्दस्म विवरुषसा सूर्येण गोभिरन्धः ।

** उरुं यज्ञाय चक्रथुरु लोकं जनयन्ता सूर्यमुषासमग्निम् ।

++ इंद्रो नृभिरजनद् दीद्यानः साकं सूर्यमुषसं गातुमग्निम् ।

✱ अग्निमुप ब्रुव उषसं सूर्यं गाम् ।

अदिति।

यह एक नया त्रैमासिक है। सम्पादक– श्री आचार्य अभयदेवजी विद्यालंकार। प्रकाशक– श्री-- अरविंद-निकेतन, कनाट सर्कस, नयी दिल्ली। वार्षिक मूल्य ४) रु०

योगी श्री अरविंदजी का नाम और कार्य भारतवासी ही नहीं, अपितु संसारभरके सब लोग जानते हैं। इस दिव्य विभूतिका उद्देश्य है अतिमानव की उत्पत्ति करके इस भूमण्डल का स्वर्गधाम बनाना। इस उद्देश्य की सिद्धता करने के लिये इस समयतक अंग्रेजी में प्रकाशन का कार्य हो रहा था। अंग्रेजीमें जो प्रकाशन होगा, वह सर्वसाधारण जनता तक पहुंच नहीं सकता, इसलिये अब श्री अरविंद-निकेतन से भाषा में प्रकाशन होगा और श्री अरविंदजीके उच्च विचार सर्वसाधारण जनतातक पहुंचेंगे, इसलिये हरएक भाषाभाषीको इस उपक्रमका स्वागत करना चाहिये।

आज इस प्रकाशन संस्थासे प्रकाशित त्रैमासिक 'अदिति' का प्रथम अंक हमारे सामने है। इस समय मुद्रण की कठिनता होनेपर भी ऐसे उच्च कोटि के आध्यात्मिक मासिक का प्रकाशन किया जा रहा है। हमें पूर्ण आशा है कि, अध्यात्मज्ञान के तृषित भाषाभाषी इस मासिक का स्वागत करेंगे।

'अदिति' देवोंकी जननी है। इसीलिये इस भूमंडल पर दैवी मानवों का जन्म करनेके हेतुसे इस 'अदिति' का प्रकाशन शुरू हुआ है।

इस त्रैमासिक में प्रायः श्री अरविन्दजी के वेदविषयक लेख प्रकाशित होंगे। साथ साथ अन्य विद्वानों के लेखों को भी इसमें स्थान मिलेगा। इस प्रथमांकमें श्री अरविंद-वाणी शीर्षक के नीचे 'लक्ष्य' और 'सत्ता का आनन्द' ये दो लेख श्री अरविंदजी के हैं। इनके लेख ऐसे हैं कि जिनका एक एक वाक्य मनन करके मनमें स्थिर रखनेयोग्य है। ये लेख पढनेसे मानव उच्च भूमिकामें विचरने लगता है।

'पांदिचेरी के परमहंस' यह संपादकीय लेख श्री अरविंदका परिचय कराता है। इसी तरह अन्यान्य लेखकों के अन्य लेख बडे बोधप्रद और उच्च कोटि के हैं। यह मासिक मानव को अतिमानव बनानेके लिये है। हमें पूर्ण विश्वास है कि, यह कार्य श्री स्वा० अभयदेवजी के सम्पादकत्व में चलते हुए इस मासिकसे अवश्य होगा। श्री अरविंदजीके लेख जो पढेंगे, वे अतिमानवताकी ओर झुकेंगे, इसमें क्या सन्देह हो सकता है? पाठक इसके ग्राहक बनें और उच्च विचारों का आनन्द प्राप्त करें।

(वा० यजु० ३।४४)

(४२३) प्रघासिन॒ऽइति॑ प्रऽघासिनः॑ । ह॒वा॒म॒हे॒ । म॒रुतः॑ । च॒ । रि॒शाद॑सः ।
क॒र॒म्भेण॑ । स॒जोष॑स॒ऽइति॑ स॒ऽजोष॑सः ॥४४॥

(वा० यजु० ७।३६)

(४२४) उ॒प॒या॒मगृ॑हीत॒ इत्यु॑पया॒मऽगृ॑हीतः । अ॒सि॒ । इन्द्रा॑य । त्वा॒ । म॒रुत्व॑ते । ए॒षः । ते॒ ।
योनिः॑ । इन्द्रा॑य । त्वा॒ । म॒रुत्व॑ते । उ॒प॒या॒मगृ॑हीत॒ इत्यु॑पया॒मऽगृ॑हीतः । अ॒सि॒ । म॒रुता॑म् । त्वा॒ ।
ओज॑से ॥३६॥

(वा० यजु० १७।८०-८६)

(४२५) शु॒क्रज्यो॑तिश्च चि॒त्रज्यो॑तिश्च स॒त्यज्यो॑तिश्च ज्योति॑ष्माँश्च । शु॒क्रश्च॑ऽऋत॒पाश्चात्यं॑हाः ॥८०॥

[१] शु॒क्रज्यो॑तिरिति॑ शु॒क्रऽज्यो॑तिः । च॒ । चि॒त्रज्यो॑तिरिति॑ चि॒त्रऽज्यो॑तिः । च॒ । स॒त्यज्यो॑तिरिति॑ स॒त्यऽज्यो॑तिः । च॒ । ज्योति॑ष्मान् । च॒ ।
शु॒क्रः । च॒ । ऋ॒त॒पाऽइत्यृ॑त॒ऽपाः । च॒ । अत्यं॑हा॒ इत्यति॑ऽअं॑हाः ॥८०॥

अन्वयः— ४२३ प्र-घासिनः रिश-अदसः करम्भेण स-जोषसः च मरुतः हवामहे । ४२४ उपयाम-गृहीतः असि, मरुत्वते इन्द्राय त्वा, एष ते योनिः, मरुत्वते इन्द्राय उपयाम-गृहीतः असि, मरुतां ओजसे त्वा । ४२५ (१) शुक्र-ज्योतिः च चित्र-ज्योतिः च सत्य-ज्योतिः च ज्योतिष्मान् च शुक्रः च ऋत-पाः च अत्यंहाः [हे *मरुतः ! यूयं अस्मिन् यज्ञे पतन] ।

अर्थ— ४२३ (प्र-घासिनः) उत्तम अन्नका सेवन करनेहारे, (रिश-अदसः) हिंसकोंका वध करनेहारे और (करम्भेण स-जोषसः च) दहीआटेको सब मिलकर सेवन करनेवाले (मरुतः हवामहे) वीर मरुतों को हम बुलाते हैं। ४२४ तू (उपयाम-गृहीतः असि) उपयाम बर्तनमें धरा हुआ सोम है, (मरुत्वते इन्द्राय) वीर मरुतोंके साथ रहनेवाले इन्द्रके लिए (त्वा) तू है। (एषः ते योनिः) यह तेरा उत्पत्तिस्थान है। (मरुतां ओजसे) वीर मरुतोंके तुल्य बल प्राप्त हो जाय, इसीलिए हम (त्वा) तुझे अर्पित करते हैं या तेरा ग्रहण करते हैं। ४२५ (१) (शुक्र-ज्योतिः च) अति शुभ्र तेजसे युक्त, (चित्र-ज्योतिः च) आश्चर्यजनक तेजसे पूर्ण, (सत्य-ज्योतिः च) सत्यके तेजसे भरा हुआ, (ज्योतिष्मान् च) पर्याप्त मात्रामें प्रकाशमान, (शुक्रः च) पवित्र, (ऋत-पाः च) सत्यका संरक्षण करनेहारा और (अत्यंहाः) पापसे दूर रहनेवाला [इस भाँति नाम धारण करनेहारे वीर मरुतो ! इस हमारे यज्ञमें तुम पधारो]

भावार्थ— ४२३ शत्रुविनाशक तथा सब इकट्ठे होकर अन्नका सेवन करनेवाले मरुतोंको हम अपने समीप बुलाते हैं। ४२४ उपयामनामक पात्रमें सोमरस उँडेलकर इन्द्र तथा मरुतोंको दिया जाता है और ऐसा करनेसे मरुतोंके समान बल प्राप्त हो, ऐसी प्रार्थना उपासक करता है तथा वह उस सोमरसका ग्रहण एवं दान करता है। ४२५(१) १ शुक्रज्योति, २ चित्रज्योति, ३ सत्यज्योति, ४ ज्योतिष्मान्, ५ शुक्र, ६ ऋतपाः ७ अत्यंहाः ये सात मरुत् हैं। यह मरुतोंकी पहली पंक्ति है।

टिप्पणी— [४२३] (१) प्र-घासिन् = (घस् अदने = खाना; घासः = अन्न) उत्तम अन्नको खानेवाले, पर्याप्त अन्नका सेवन करनेवाले। (२) करम्भ = सत्तूका आटा दहीमें मिलाकर तैयार किया हुआ खाद्य पदार्थ। दही-भात, कोईभी अन्न दहीमें मिला देनेपर सिद्ध होनेवाली खानेकी चीज। [४२५ (१)] (१) अत्यंहस् = (अति + अंहस्-) पापसे दूर रहनेवाला। [हे *मरुतः !] —— यह अध्याहार मंत्र ४२५ में से लिया है।

(४२४) ईदृङ् चान्यादृङ् च सदृङ् च प्रतिसदृङ् च । मितश्च सम्मितश्च सभराः ॥८१॥

[२] ईदृङ् । च । अन्यादृङ् । च । सदृङ् ।सदृङिति स॒ऽदृङ् । च । प्रतिसदृङिति प्रतिऽसदृङ् । च ।
मितः । च । सम्मितऽइति सम्ऽमितः । च । सभराऽइति सऽभराः ॥८१॥

(४२४) ऋतश्च सत्यश्च ध्रुवश्च धरुणश्च । धर्ता च विधर्ता च विधारयः ॥८२॥

[३] ऋतः । च । सत्यः । च । ध्रुवः । च । धरुणः । च । धर्ता । च । विधर्तेति विऽधर्ता । च ।
विधारयऽइति विऽधारयः ॥ ८२ ॥

(४२४) ऋतजिच्च सत्यजिच्च सेनजिच्च सुषेणश्च । अन्तिमित्रश्च दूरेऽअमित्रश्च गणः ॥८३॥

[४] ऋतजिदित्यृतऽजित् । च । सत्यजिदिति सत्यऽजित् । च । सेनजिदिति सेनऽजित् । च ।
सुषेणः । सुसेनऽइति सुऽसेनः । च ।
अन्तिमित्रऽइत्यान्तिऽमित्रः । च । दूरेऽअमित्रऽइति दूरेऽअमित्रः । च । गणः ॥ ८३ ॥

अन्वयः— ४२४ (२) ई-दृङ् च अन्या-दृङ् च स-दृङ् च प्रति-सदृङ् च मितः च सं-मितः च स-भराः [हे मरुतः ! यूयं अस्मिन् यज्ञे एतन ।] ४२४ (३) ऋतः च सत्यः च ध्रुवः च धरुणः च धर्ता च वि-धर्ता च वि-धारयः [हे मरुतः ! यूयं अस्मिन् यज्ञे एतन]। ४२४ (४) ऋत-जित् च सत्य-जित् च सेन-जित् च सु-षेणः च अन्ति-मित्रः च दूरेऽअ-मित्रः च गणः [हे मरुतः ! यूयं अस्मिन् यज्ञे एतन]।

अर्थ— ४२४ (२) (ई-दृङ् च) समीप की वस्तुपर दृष्टि रखनेवाला, (अन्या-दृङ् च) दूसरी ओर निगाह डालनेवाला, (स-दृङ् च) सबको सम दृष्टिसे देखनेवाला, (प्रति-संदृङ् च) प्रत्येकको एक विशिष्ट दृष्टिसे देखनेहारा, (मितः च) संतुलित भावसे बर्ताव रखनेवाला, (सं-मितः च) सबसे समरस होनेवाला, (स-भराः) सभी कामोंका बोझ अपने सरपर उठानेवाला- [इन नामोंसे प्रख्यात वीर मरुतो ! इस हमारे यज्ञमें आ जाओ। ४२४ (३) (ऋतः च) सरल व्यवहार करनेहारा, (सत्यः च) सत्याचरणी, (ध्रुवः च) अटल एवं अडिग भावसे पूर्ण, (धरुणः च) सबको आश्रय देनेवाला, (धर्ता च) धारकशक्तिसे युक्त, (वि-धर्ता च) विविध ढंगोंसे धारण करनेमें समर्थ और (वि-धार-यः) विशेष रीतिसे धारण कर प्रगतिशील बननेवाला- [इन नामोंसे विख्यात वीर मरुतो ! हमारे यज्ञमें पधारो।] ४२४ (४) (ऋत-जित् च) सरल राहसे चलकर यशस्वी होनेवाला, (सत्य-जित् च) सत्यसे जीतनेवाला, (सेन-जित् च) शत्रुसेनापर विजय पानेवाला, (सु-षेणः च) अच्छी सेना समीप रखनेवाला, (अन्ति-मित्रः च) मित्रोंको समीप करनेवाला, (दूरेऽअ-मित्रः च) शत्रुको दूर हटानेवाला और (गणः) गिनती करनेवाला- [इन नामोंसे विभूषित वीरो ! हमारे इस यज्ञमें आओ]

भावार्थ— ४२४ (२) ८ ईदृङ्, ९ अन्यादृङ्, १० सदृङ्, ११ प्रतिसंदृङ्, १२ मित, १३ संमित तथा १४ सभर इन सात मरुतोंका उल्लेख यहाँपर किया है। यह मरुतोंकी दूसरी कतार है। ४२४ (३) १५ ऋत, १६ सत्य, १७ ध्रुव, १८ धरुण, १९ विधर्ता, २० धर्ता, २१ विधारय ऐसे सात मरुतोंका उल्लेख यहाँपर है। यह मरुतोंकी तीसरी पंक्ति है। ४२४ (४) २२ ऋतजित्, २३ सत्यजित्, २४ सेनजित्, २५ सुषेण, २६ अन्तिमित्र, २७ दूरेऽमित्र, २८ गण इन सात मरुतोंका निर्देश यहाँपर किया है। यह मरुतोंकी चतुर्थ कतार है।

टिप्पणी— [४२४ (३)] (१) ऋत = सरल, विश्वासार्ह, पूज्य, प्रदीप्त, सत्य, यज्ञ, सत्कर्म। (२) धरुण = ढोनेवाला, ले जानेवाला, आश्रय देनेहारा। [४२४ (४)] (१) गणः = (गण् परिसंख्याने) गिनती करनेहारा, चतुर्दिक् ध्यान देनेहारा, चौकन्ना ।

(४२५) ईदृक्षासः । एतादृक्षासः । ऊँऽत्यूँ । सु । नः । सदृक्षास इति सऽदृक्षासः । प्रतिसदृक्षासऽइति प्रतिऽसदृक्षासः । आ । इतन । मितासः । च । सम्मितासऽइति समऽमितासः । नः । अद्य । सभरसऽइति सऽभरसः । मरुतः । यज्ञे । अस्मिन् ॥८४॥

(४२६) स्वतवानिति स्वऽतवान् । च । प्रघासीति प्रऽघासी । च । सान्तपनऽइति साम्ऽतपनः । च । गृहमेधीति गृहमेधी । च । क्रीडी । च । शाकी । च । उज्जेषीत्युत्ऽजेषी ॥८५॥

[(४२६) उग्रश्च भीमश्च ध्वान्तश्च धुनिश्च । सासह्वाँश्चाभियुग्वा च विक्षिपः स्वाहा । (वा०य०३९।७)

[१] उग्रः । च । भीमः । च । ध्वान्तःऽइति धुऽआन्तः । च । धुनिः । च । सासह्वान् । ससह्वानिति ससह्वान् । च । अभिऽयुग्वेत्यभिऽयुग्वा । च । विक्षिपऽइति विऽक्षिपः । स्वाहा ॥७॥]

(४२७) इन्द्रम् । दैवीः । विशः । मरुतः । अनुवर्त्मानऽइत्यनुऽवर्त्मानः । अभवन् । यथा । इन्द्रम् । दैवीः । विशः । मरुतः । अनुवर्त्मान इत्यनुऽवर्त्मानः । अभवन् । एवम् । इमम् । यजमानम् । दैवीः । च । विशः । मानुषीः । च । अनुवर्त्मानऽइत्यनुऽवर्त्मानः । भवन्तु ॥८६॥

अन्वयः— ४२५ ई--दृक्षासः एता--दृक्षासः ऊ स--दृक्षासः प्रति--सदृक्षासः सु--मितासः सं--मितासः नः स--भरसः (हे) मरुतः ! अद्य नः अस्मिन् यज्ञे पतन । ४२६ स्व--तवान् च प्र-घासी च सान्तपनः च गृह-मेधी च क्रीडी च शाकी च उत्-जेषी च [हे मरुतः ! यूयं अस्मिन् यज्ञे पतन] । ४२६(१) उग्रः च भीमः च ध्वान्तः च धुनिः च सासह्वान् च अभि-युग्वा च विक्षिपः स्वाहा । ४२७ दैवीः विशः मरुतः इन्द्रं अनु-वर्त्मानः अभवन् (यथा दैवीः०००० अभवन्) एवं दैवीः मानुषीः च विशः इमं यजमानं अनु-वर्त्मानः भवन्तु ।

अर्थ- ४२५ (ई-दृक्षासः) इन समीपस्थ वस्तुओंपर विशेष दृष्टि रखनेहारे, (एता-दृक्षासः) उन सुदूर वर्ती चीजोंपर विशेष ध्यान केन्द्रित करनेवाले, (ऊ स-दृक्षास) सब मिलकर एक विचारसे देखनेहारे, (प्रति-सदृक्षासः) प्रत्येककी ओर विशेष ध्यान देनेवाले, (सु-मितासः) अच्छे ढंगसे प्रमाणबद्ध, (सं-मितासः) मिलजुलकर काम करनेहारे तथा (नः) हमारा (स-भरसः) समान अनुपातमें पोषण करनेवाले हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! (अद्य) आज दिन (नः अस्मिन् यज्ञे) हमारे इस यज्ञमें (पतन) आओ ।

४२६ (स्व-तवान्) अपने निजी बलके सहारे खडा हुआ, (प्र-घासी च) भली भाँति अन्न तैयार करनेवाला, (सान्तपनः च) शत्रुओंको परिताप देनेवाला, (गृह-मेधी च) गृहस्थधर्म का पालन करनेवाला, (क्रीडी च) खिलाडी, (शाकी च) सामर्थ्ययुक्त तथा (उत्-जेषी च) दुश्मनोंपर अच्छी विजय पानेहारा [इस भाँति नाम धारण करनेहारे वीर मरुतो ! इस हमारे यज्ञमें आओ ।]

४२६ (१) (उग्रः च) उग्र, (भीमः च) भीषण, (ध्वान्तः च) शत्रुओं के आँखों में अँधियारी छा जाय ऐसा कार्य करनेहारा, (धुनिः च) शत्रुदलको हिला देनेवाला, (सासह्वान् च) सहनशक्तिसे युक्त, (अभि-युग्वा च) शत्रुदलसे सामने जूझनेवाला, (वि-क्षिपः च) विविध ढंगोंसे शत्रुओं को भगानेवाला-इस भाँति नाम धारण करनेहारे वीर मरुतोंको ये हविष्यान्न (स्वाहा) अर्पित हों ।

४२७ (दैवीः विशः मरुतः) ये वीर मरुत् दैवी प्रजाजन हैं और वे (इन्द्रं अनु-वर्त्मानः) इन्द्र के अनुयायी (अभवन्) हुए हैं । (एवं) इसी भाँति (दैवीः मानुषीः च विशः) देवलोक एवं मनुष्यलोक के प्रजाजन (इमं यजमानं) इस यज्ञ करनेहारे के (अनु-वर्त्मानः भवन्तु) अनुयायी हों ।

भावार्थ— ४२५ २९ ईदृक्षासः, ३० एतादृक्षासः, ३१ सदृक्षासः, ३२ प्रतिसदृक्षासः, ३३ सुमितासः, ३४ संमितासः, ३५ सभरसः इन सात मरुतों का उल्लेख इस मन्त्रमें है। यह मरुतोंकी पंचम पंक्ति है।

४२६ ३६ स्वतवान्, ३७ प्रघासी, ३८ सान्तपन, ३९ गृहमेधी, ४० क्रीडी, ४१ शाकी, ४२ उज्जेषी इन सात मरुतोंका निर्देश यहाँ है। यह मरुतोंकी छठी पंक्ति है।

४२६ (१) ४३ उग्र, ४४ भीम, ४५ ध्वान्त, ४६ धुनि, ४७ सासह्वान्, ४८ अभियुग्वा, ४९ विक्षिपः इस भाँति सात मरुतोंकी संख्या यहाँपर निर्दिष्ट है। यह मरुतोंकी सप्तम पंक्ति है।

टिप्पणी— [४२६ (१)] (१) ध्वान्तः = (ध्वन् शब्दे) शब्दकारी, अँधेरा। (२) सासह्वान् = (स-आ- [सह् मर्षणे]+वत्) सहनशक्तिसे युक्त। [ऋ० ८.९६.८ मंत्रमें "त्रिः षष्टिस्त्वा मरुतो वावृधाना" अर्थात् समूचे मरुतोंकी संख्या ६३ है, ऐसा स्पष्ट कहा है। उसी मंत्रपर की हुई सायणाचार्यजी की टीकामें यों लिखा है- "त्रिः त्रयः। षष्टिस्त्र्युत्तरसंख्याकाः मरुतः। ते च तैत्तिरीयके 'ईदृङ् चान्यादृङ् च' (तै० सं० ४।६।५।५) इत्यादिना नवसु गणेषु सप्त सप्त प्रतिपादिताः। तत्रादितः पञ्च गणाः संहितायामाम्नायन्ते। 'स्वतवांश्च प्रघासी च सान्तपनश्च गृहमेधी च क्रीडी च शाकी चोज्जेषी' (वा० सं० १७।८५) इति खैलिकः षष्ठो गणः। ततो 'धुनिश्च ध्वान्तश्च' (तै० आ० ४।२४) इत्याद्यास्त्रयोऽरण्येऽनुवाक्याः। इत्थं त्रयःषष्टिसंख्याकाः-"

तैत्तिरीय संहिताका परिगणन इस भाँति है--

	संख्या	
(१) ईदृङ् च--	७	(वा० यजु० मंत्रसंख्या १७।८१)
(२) शुक्रज्योतिश्च--	७	(,, ,, ,, ८०)
(३) ऋतजिच्च--	७	(,, ,, ,, ८३)
(४) ऋतश्च--	७	(,, ,, ,, ८२)
(५) ईदृक्षासः--	७	(,, ,, ,, ८४)
	३५	

टीकाके अनुसार देखना हो तो--

(६) स्वतवान्--	७	(वा० य० १७।८५)
(७) धुनिश्च ध्वान्तश्च--	७	(तै० आ० ४।२४)
(८) उग्रश्च धुनिश्च--	१२	,, ,,
	१९	

टीकामें 'धुनिश्च इत्याद्यास्त्रयः' यों कहा है, परन्तु ७×३ = २१ मरुत् स्वतंत्र रीतिसे नहीं पाये गये हैं। केवल १९ हैं। जिनमेंसे ५ पुनरुक्त हैं। सब मिलाकर तै० सं ३५+वा० य० ७+तै० आ० १४ = ५६ मरुतोंकी गिनती पाई जाती है। (वा० य० ३९।७) 'उग्रश्च भीमश्च' गिनतीकोभी इसीसे संयुक्त करें और उसमेंसेभी पुनरुक्त ४ नाम हटा दें तो (पहले के ५६+) शेष ३ मिलानेपर कुल ५९ संख्याही दीख पडती है। शेष ४ नामोंका अनुसन्धान जिज्ञासुओंको करना चाहिए। 'एकोनपञ्चाशत्संख्याकाः मरुतः' ऐसा वर्णन अनेक स्थानोंपर पाया जाता है, उस प्रकार (वा० य० १७।८० से ८५ और ३९।७) तक ४९ मरुतोंकी गणना स्पष्ट है।

अब (वा० य० १७।८० से ८५ और ३९।७); (तै० सं० ४।६।५।५) और (तै० आ० ४।२४) इन सभी मंत्रोंकी गणना निम्नलिखित ढंगकी है—

[वा. य. १७।८० ~ ८५ व ३९।७]—

	१	२	३	४	५	६	७
१	शुक्रज्योति	चित्रज्योति	सत्यज्योति	ज्योतिष्मान्	शुक्र	ऋतप	अत्यंहस्
२	ईदृङ्	अन्यादृङ्	सदृङ्	प्रतिसदृङ्	मित	संमित	सभरस्
३	ऋत	सत्य	ध्रुव	धरुण	धर्ता	विधर्ता	विधारय
४	ऋतजित्	सत्यजित्	सेनजित्	सुषेण	अन्तिमित्र	दूरेऽमित्र	गण
५	ईदृक्षासः	एतादृक्षासः	सदृक्षासः	प्रतिसदृक्षासः	सुमितासः	संमितासः	सभरसः
६	स्वतवान्	प्रघासी	सान्तपन	गृहमेधी	क्रीडी	शाकी	उज्जेषी
७	उग्र	भीम	ध्वान्त	धुनि	सासह्वान्	अभियुग्वा	विक्षिप

(पंचम पंक्तिमें ' **संमितासः** ' तथा ' **सभरसः** ' का एकवचन लिया जाय तो '**संमित**' तथा '**सभरस्**' दोनों नाम दूसरी पंक्तिमें पाये जाते हैं यह विचार करने योग्य बात है।)

(तै. सं. ४।६।५।५)

	१	२	३	४	५	६	७
१	ईदृङ्	अन्यादृङ्	एतादृङ्	प्रतिसदृङ्	मित	संमित	सभरस्
२	शुक्रज्योति	चित्रज्योति	सत्यज्योति	ज्योतिष्मान्	सत्य	ऋतप	अत्यंहस्
३	ऋतजित्	सत्यजित्	सेनजित्	सुषेण	अन्ति-अमित्र	दूरेऽमित्र	गण
४	ऋत	सत्य	ध्रुव	धरुण	धर्ता	विधर्ता	विधारय
५	ईदृक्षासः	एतादृक्षासः	सदृक्षासः	प्रतिसदृक्षासः	मितासः	संमितासः	सभरसः

(तै. आ. ४।२४)—

	१	२	३	४	५	६	७
१	धुनि	ध्वान्त	ध्वन	ध्वनयन्	निलिम्प	विलिम्प	विक्षिप
२	उग्र	धुनि	ध्वान्त	ध्वन	ध्वनयन्	सहसह्वान्	सहमान
३	सहस्वान्	सहीयान्	एत्य	प्रेत्य	विक्षिप	×	×

यह समूची गणना १०३ हुई। इसमेंसे ४० पुनरुक्त हटा दें, तो ६३ शेष रहते हैं। इस प्रकार (ऋ. ८।९६।८) परकी टीकामें जो ६३ संख्या बतलायी है, वह सुसंगत प्रतीत होती है।

इससे ऐसा जान पडता है कि इन ६३ मरुतोंकी रचना यों बतलायी जा सकती है --

ध्यानमें रहे कि इन मरुतोंकी सेनामें छोटेसे छोटा समुदाय (Unit) ६३ सैनिकोंका माना जाता है। इसका चित्र अगले पृष्ठपर देखिये।
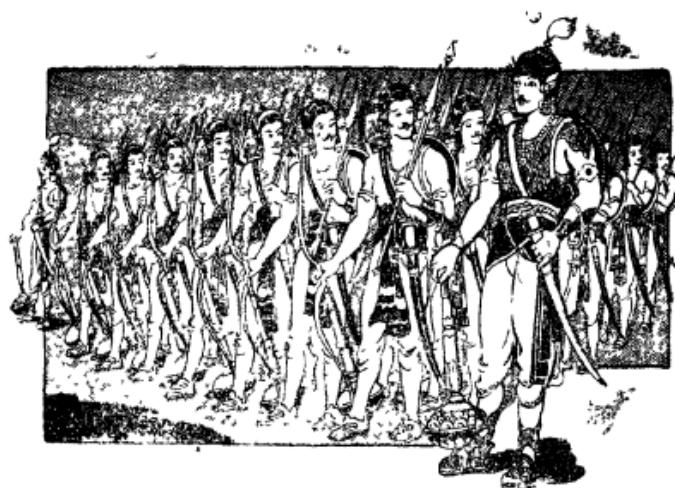
मरुतोंका एक संघ

पार्श्वरक्षकोंकी पंक्ति ७ मरुत्	मरुतोंकी सात पंक्तियाँ ४९ मरुत्	पार्श्वरक्षकोंकी पंक्ति. ७ मरुत्

७ पार्श्वरक्षक + ४९ मरुत् + ७ पार्श्वरक्षक= कुल ६३ मरुतोंका एक संघ.

(वा० यजु० २५।२०)

(४२८) पृषदश्वा इति पृषत्ऽअश्वाः । मरुतः । पृश्निमातर इति पृश्निऽमातरः ।
शुभंयावान इति शुभम्ऽयावानः । विदथेषु । जग्मयः ।
अग्निजिह्वा इत्यग्निऽजिह्वाः । मनवः । सूरचक्षस इति सूरऽचक्षसः ।
विश्वे । नः । देवाः । अवसा । आ । अगमन् । इह ॥२०॥

अत्रिपुत्र श्यावाश्व ऋषि (साम० ३५६)

(४२९) यदि । वहन्ति । आशवः । भ्राजमानाः । रथेषु । आ ।
पिबन्तः । मदिरम् । मधु । तत्र । श्रवांसि । कृण्वते ॥५॥

ब्रह्मा ऋषि (अथर्व० १।२६।३-४)

(४३०) यूयम् । नः । प्रऽवतः । नपात् । मरुतः । सूर्यऽत्वचसः ।
शर्म । यच्छाथ । सऽप्रथाः ॥३॥

अन्वयः— ४२८ पृषत्-अश्वाः पृश्नि-मातरः शुभं-यावानः विदथेषु जग्मयः अग्नि-जिह्वाः मनवः सूर-चक्षसः मरुतः विश्वे देवाः अवसा नः इह आगमन् ।

४२९ यदि आशवः रथेषु भ्राजमानाः मधु मदिरं पिबन्तः आ वहन्ति तत्र श्रवांसि कृण्वते ।

४३० (हे) सूर्य-त्वचसः मरुतः ! प्रवतः नपात् ! यूयं नः स-प्रथाः शर्म यच्छाथ ।

अर्थ— ४२८ रथों को (पृषत्-अश्वाः) धब्बेवाले घोडे जोतनेवाले, (पृश्नि-मातरः) भूमि एवं गौको माता माननेहारे, (शुभं-यावानः) लोककल्याण के लिए हलचल करनेवाले, (विदथेषु जग्मयः) युद्धों में जानेवाले, (अग्नि-जिह्वाः) अग्निकी लपटों की नाईं तेजस्वी, (मनवः) विचारशील, (सूर-चक्षसः) सूर्यवत् प्रकाशमान (मरुतः) वीर मरुत् और (विश्वे देवाः) सभी देव (अवसा) संरक्षक शक्तियोंके साथ (नः इह) हमारे यहाँ (आगमन्) आ जायँ ।

४२९ (यदि) जहाँ जहाँ ये (आशवः) वेगपूर्वक जानेहारे,(रथेषु भ्राजमानाः) रथोंमें चमकने-हारे तथा (मधु मदिरं पिबन्तः) मीठा सोमरस पीनेवाले वीर (आ वहन्ति) चले जाते हैं (तत्र) वहाँ वहाँपर (श्रवांसि कृण्वते) विपुल धन पाते हैं ।

४३० हे (सूर्य-त्वचसः मरुतः !) सूर्यवत् तेजस्वी वीर मरुतो ! और (प्रवतः नपात्) अग्ने ! (यूयं) तुम सभी मिलकर (नः) हमें (स-प्रथा) विपुल (शर्म) सुख (यच्छाथ) दे दो ।

भावार्थ— ४२८ (भावार्थ स्पष्ट है ।) ४२९ जिधर ये वीर सैनिक चले जाते हैं, उधर वे भाँति भाँतिके धन कमाते हैं । ४३० हमें इन देवों की कृपासे सुख मिले ।

टिप्पणी— [४३०] (१) प्रवत्= सुगम मार्ग, ढाल । (२) नपात्= पोता, पुत्र (न-पात्) जिसका पतन न होता हो। प्रवतो नपात्= (Son of the heavenly height i.e. Agni); सीधी राहसे आकर न गिरानेवाला । (३) स-प्रथाः= (प्रथस्=विस्तार) विस्तारसे युक्त, विशाल, विपुल ।

(४३१) सुसूदत । मृडत । मृडय । नः । तनूभ्यः । मयः । तोकेभ्यः । कृधि ॥४॥

(अथर्व० ५।२६।५)

(४३२) छन्दांसि । यज्ञे । मरुतः । स्वाहा ।
माताऽइव । पुत्रम् । पिपृत । इह । युक्ताः ॥५॥

(अथर्व० १३।१।३)

(४३३) यूयम् । उग्राः । मरुतः । पृश्निऽमातरः । इन्द्रेण । युजा । प्र । मृणीत । शत्रून् ।
आ । वः । रोहितः । शृणवत् । सुऽदानवः ।
त्रिऽसप्तासः । मरुतः । स्वादुऽसंमुदः ॥३॥

अन्वयः— ४३१ सु-सूदत मृडत मृडय नः तनूभ्यः तोकेभ्यः मयः कृधि।

४३२ (हे) मरुतः ! युक्ताः इह यज्ञे माताइव पुत्रं छन्दांसि पिपृत, स्वाहा।

४३३ (हे) पृश्नि-मातरः उग्राः मरुतः ! यूयं इन्द्रेण युजा शत्रून् प्र मृणीत, (हे) सु-दानवः स्वादु-सं-मुदः त्रि-सप्तासः मरुतः ! वः रोहितः आ शृणवत्।

अर्थ— ४३१ हमारे शत्रुओं को (सु-सूदत) विनष्ट करो। हमें (मृडत) सुखी करो; हमें (मृडय) सुखी करो। (नः तनूभ्यः) हमारे शरीरों को और (तोकेभ्यः) पुत्रपौत्रोंको (मयः) सुखी (कृधि) करो।

४३२ हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! (युक्ताः) हमेशा तैयार रहनेवाले तुम (इह यज्ञे) इस यज्ञमें (माताइव पुत्रं) माता जैसे पुत्रका पालनपोषण करती है, उसी प्रकार हमारे (छन्दांसि) मन्त्रों का, इच्छाओं का (पिपृत) संगोपन करो। (स्वाहा) ये हविष्यान्न तुम्हें अर्पित हों।

४३३ हे (पृश्नि-मातरः) भूमिको माता माननेवाले, (उग्राः) शूर (मरुतः !) वीर मरुतो ! (यूयं) तुम (इन्द्रेण युजा) इन्द्रसे युक्त होकर (शत्रून् प्र मृणीत) शत्रुओंका संहार करो। हे (सु-दानवः) दानी, (स्वादु-सं-मुद) मीठे अन्नसे अच्छा आनन्द पानेहारे तथा (त्रि-सप्तासः) इक्कीस विभागोंमें बँटे हुए (मरुतः !) वीर मरुतो ! (वः रोहितः) तुम्हारा लाल रंगवाला हरिण (आ शृणवत्) तुम्हारी बात सुन ले, तुम्हारी आज्ञामें रहे।

भावार्थ— ४३१ हमारे शत्रुओंका विनाश होकर हमें सुख प्राप्त हो।

४३२ हमारी आकांक्षाओंका भली भाँति संगोपन हो और वह वीरोंके प्रयत्नसे हो, अतः इन वीरोंको हम यह अर्पण कर रहे हैं।

४३३ वीर सैनिक अपने प्रमुख सेनापतिकी आज्ञामें रहकर शत्रुदलकी धज्जियाँ उडा दें। अच्छा अन्न प्राप्त करके आनन्द प्राप्त करें। अपने सभी सेनाविभागोंकी सुव्यवस्था रखकर हरएक वीर, प्रमुखकी आज्ञाके अनुसार, कार्य करता रहे, ऐसा अनुशासनका प्रबंध रहे।

टिप्पणी— [४३१] (१) सूद् (क्षरणे)= विनाश करना, वध करना, दुःख देना, दूर फेंक देना, रखना।

[४३२] (१) छन्दस्= इच्छा, स्तुति, वेद।

[४३३] (१) स्वादु = मीठा, (मिठासभरी खाद्य वस्तु, सोमरस)। (२) सप्त= (सप् = सम्मान देना) सात, सम्मानित।

अथर्वा ऋषि (अथर्व० ३।१।२, ६)

(४३४) यूयम् । उग्राः । मरुतः । ईदृशे । स्थ । अभि । प्र । इत । मृणत । सहध्वम् ।
अमीमृणन् । वसवः । नाथिताः । इमे । अग्निः । हि । एषाम् । दूतः । प्रतिऽएतु । विद्वान् ॥२॥
(४३४)इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो घ्नन्त्वोजसा । चक्षूंष्यग्निरा दत्तां पुनरेतु पराजिता ॥६॥
[१] इन्द्रः । सेनाम् । मोहयतु । मरुतः । घ्नन्तु । ओजसा ।
चक्षूंषि । अग्निः । आ । दत्ताम् । पुनः । एतु । पराऽजिता ॥६॥

(अथर्व० ३।२।६)

(४३५) असौ । या । सेना । मरुतः । परेषाम् । अस्मान् । आऽएति । अभि । ओजसा । स्पर्धमाना ।
ताम् । विध्यत । तमसा । अपऽव्रतेन । यथा । एषाम् । अन्यः । अन्यम् । न । जानात् ॥६॥

अन्वयः— (हे) उग्राः मरुतः ! यूयं ईदृशे स्थ, अभि प्र इत, मृणत सहध्वं, इमे नाथिताः वसवः अमीमृणन्, एषां विद्वान् दूतः अग्निः हि प्रत्येतु । ४३४ (१) इन्द्रः सेनां मोहयतु, मरुतः ओजसा घ्नन्तु, अग्निः चक्षुः आ दत्तां, पराजिता पुनः एतु । ४३५ (हे) मरुतः ! असौ परेषां या सेना ओजसा स्पर्धमाना अस्मान् अभि आ-एति तां अप-व्रतेन तमसा विध्यत यथा एषां अन्यः अन्यं न जानात् ।

अर्थ— ४३४ हे (उग्राः मरुतः !) उग्र स्वरूपवाले वीर मरुतो ! (यूयं) तुम (ईदृशे) ऐसे समरमें (स्थ) स्थिर रहो और शत्रुओंपर (अभि प्र इत) आक्रमण करो। शत्रुओंके वीरोंको (मृणत) मारकर (सहध्वं) उनका पराभव करो। उसी प्रकार (इमे) ये (नाथिताः) प्रशंसित और (वसवः) बसानेवाले वीर हमारे शत्रुओंको (अमीमृणन्) विनष्ट कर डालें। (एषां विद्वान् दूतः) इनका ज्ञानी दूत (अग्निः हि) अग्निभी (प्रत्येतु) हर शत्रुपर चढाई करे। ४३४ (१) (इन्द्रः) इन्द्र (सेनां) शत्रुसेनाको (मोहयतु) मोहित कर डाले, (मरुतः) वीर मरुत् (ओजसा) अपने बलसे विरोधी पक्षके लोगोंको (घ्नन्तु) मार डालें, (अग्निः) अग्नि उनकी (चक्षुः) दृष्टिको (आ दत्तां) निकाल ले और इस ढंगसे (पराजिता) परास्त हुई शत्रुसेना (पुनः एतु) फिर एक बार पीछे हटकर लौट जाय। ४३५ हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! (असौ) यह (परेषां या सेना) शत्रुओंकी जो सेना (ओजसा) अपने बलके आधारसे (स्पर्धमाना) स्पर्धा करती हुई, होड लगाती हुईसी (अस्मान् अभि आ-एति) हमपर चढाई करती हुई आती है, (तां) उसे (अप-व्रतेन) जिसमें कुछ भी नहीं किया जा सकता है, ऐसा (तमसा) अंधेरा फैलाकर, उससे उस सेनाको (विध्यत) विंध डालो, इस भाँति (यथा) कि (एषां) इनमें से (अन्यः अन्यं न जानात्) एक दूसरे को जान नहीं सके।

भावार्थ— ४३४ युद्ध छिड जानेपर वीर सैनिक अपनी जगह डटकर खडे रहें और दुश्मनोंपर टूट पडें। शत्रुओंको गाजरमूलीकी तरह काट देना चाहिए और दुश्मनोंकी चढाईके फलस्वरूप अपना स्थान छोडकर भागना नहीं चाहिए, क्योंकि ऐसा करनेसे स्वयं अपनेको परास्त होना पडेगा। ४३४ (१) शत्रुदल परास्त हो जाय, उसे शिकस्त खानी पडे। ४३५ शत्रुदलपर इस भाँति आक्रमण कर देना चाहिए कि, सभी शत्रुसैनिक पूर्ण रूपसे भ्रांतचित्त हो उठें। अँधेरा उत्पन्न करनेवाले (तमस्)-अस्त्र का प्रयोग करके दुश्मनोंकी सेनाको अकिंचित्कर बनाया जाय।

टिप्पणी— [४३४] (१) मृण् = (हिंसायाम्) वध करना, नाश करना। (२) वसु= उपनिवेश बसानेमें सहायता करनेहारा, (वासयतीति)। [४३५] (१) अप-व्रत (व्रत=कर्म, कर्तव्य)=जिसमें कर्तव्यका विनाश हुआ हो। अपव्रतं तमः = यह एक अस्त्र है। शत्रुसेनामें तीव्र अँधियारी फैलती है, धुएँ के मारे सैनिकों को श्वास लेना दूभर प्रतीत होता है, दम घुटने लगता है। उन्हें ज्ञात नहीं होता कि, क्या किया जाय। जो करना सो नहीं करते और अनिष्ट से बन जाने के कारण नहीं करना है, वही कर बैठते हैं। ' अपव्रततम ' नामक अस्त्रका प्रभाव इसी भाँति बडा अनूठा है।

(अथर्व० ५।२४।६)

(४३६) मुरुतः । पर्वतानाम् । अधिऽपतयः । ते । मा । अवन्तु ।
अस्मिन् । ब्रह्मणि । अस्मिन् । कर्मणि । अस्याम् । पुरःऽधायाम् । अस्याम् । प्रतिऽस्थायाम् ।
अस्याम् । चित्त्याम् । अस्याम् । आऽकूत्याम् । अस्याम् । आऽशिषि । अस्याम् । देवऽहूत्याम् । स्वाहा ॥६॥

शन्ताति ऋषि । (अथर्व० ४।१३।४)

(४३७) त्रायन्ताम् । इमम् । देवाः । त्रायन्ताम् । मरुताम् । गणाः ।
त्रायन्ताम् । विश्वा । भूतानि । यथा । अयम् । अरपाः । असत् ॥४॥

(अथर्व० ६।२२।२-३)

(४३८) पयस्वतीः । कृणुथ । अपः । ओषधीः । शिवाः । यत् । एजथ । मरुतः । रुक्मऽवक्षसः ।
ऊर्जम् । च । तत्र । सुऽमतिम् । च । पिन्वत । यत्र । नरः । मरुतः । सिञ्चथ । मधु ॥२॥

अन्वय — ४३६ पर्वतानां अधिपतयः ते मरुतः अस्मिन् ब्रह्मणि अस्मिन् कर्मणि अस्यां पुरो-धायां अस्यां प्र-तिष्ठायां अस्यां चित्त्यां अस्यां आकूत्यां अस्यां आशिषि अस्यां देव-हूत्यां मा अवन्तु स्वाहा ।

४३७ देवाः इमं त्रायन्तां, मरुतां गणाः त्रायन्तां, विश्वा भूतानि यथा अयं अ-रपाः असत् त्रायन्तां ।

४३८ (हे) रुक्म-वक्षसः मरुतः ! यत् एजथ पयस्वतीः अपः शिवाः ओषधीः कृणुथ, (हे) नरः मरुतः ! यत्र मधु सिञ्चथ तत्र ऊर्जं च सु-मतिं च पिन्वत ।

अर्थ— ४३६ (पर्वतानां अधिपतयः) पहाडों के स्वामी (ते मरुतः) वे वीर मरुत् (अस्मिन् ब्रह्मणि) इस ज्ञानमें, (अस्मिन् कर्मणि) इस कर्म में, (अस्यां पुरो-धायां) इस नेतृत्व में, (अस्यां प्र-तिष्ठायां) इस अच्छी प्रकारकी स्थिरतामें, (अस्यां चित्त्यां) इस विचारमें, (अस्यां आकूत्यां) इस अभिप्रायमें, (अस्यां आशिषि) इस आशीर्वादमें (अस्यां देव-हूत्यां) और इस देवोंकी प्रार्थनामें (मा अवन्तु) मेरी रक्षा करें। (स्वाहा) ये हविष्यान्न उनके लिए अर्पित हैं ।

४३७ (देवाः) देवतागण (इमं त्रायन्तां) इसका संरक्षण करें, (मरुतां गणाः) वीर मरुतों के संघ इसकी (त्रायन्तां) रक्षा करें । (विश्वा भूतानि) समूचे जीवजन्तु भी (यथा) जिस भाँति (अयं अ-रपाः असत्) यह निर्दोष, निष्पाप, निरोगी हो, उसी ढंगसे इसे (त्रायन्तां) बचायें ।

४३८ हे (रुक्म-वक्षसः मरुतः!) वक्षःस्थलपर स्वर्णमुद्राके हार धारण करनेवाले वीर मरुतो ! (यत् एजथ) जब तुम चलने लगते हो तब (पयस्वतीः अपः) बलवर्धक जल तथा (शिवाः ओषधीः) कल्याणकारक वनस्पतियां (कृणुथ) उत्पन्न करते हो और हे (नरः मरुतः !) नेतापदपर अधिष्ठित वीरो-सैनिको ! (यत्र मधु सिञ्चत) जहाँपर तुम मीठासभरे अन्नकी समृद्धि करते हो, (तत्र) वहाँपर (ऊर्जं च सुमतिं च) बल एवं उत्तम बुद्धि को (पिन्वत) निर्मित करते हो ।

भावार्थ— ४३८ पवन बहती है, मेघ वर्षा करने लगते हैं, वनस्पतियाँ बढती हैं और मिठासभरे फल खानेके लिए मिलते हैं । इस अन्नसे बुद्धि की वृद्धि होनेमें बडी भारी सहायता मिलती है ।

टिप्पणी- [४३६] (१) चित्तिः= विचार, मनन, ज्ञान, भक्ति, कीर्ति ।

(४३९) उद्ऽप्रुतः । मरुतः । तान् । इयर्त । वृष्टिः । या । विश्वाः । निऽवतः । पृणाति ।
एजाति । ग्लहा । कन्याऽइव । तुन्ना । एरुम् । तुन्दाना । पत्याऽइव । जाया ॥३॥

मृगार ऋषि । (अथर्व ४।२७।१-७)

(४४०) मरुताम् । मन्वे । अधि । मे । ब्रुवन्तु । प्र । इमम् । वाजम् । वाजऽसाते । अवन्तु ।
आशून्ऽइव । सुऽयमान् । अह्वे । ऊतये । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥१॥

(४४१) उत्सम् । अक्षितम् । विऽअञ्चन्ति । ये । सदा । ये । आऽसिञ्चन्ति । रसम् । ओषधीषु ।
पुरः । दधे । मरुतः । पृश्निऽमातॄन् । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥२॥

अन्वयः- ४३९ (हे) मरुतः ! उद्-प्रुतः तान् इयर्त, या वृष्टिः विश्वाः निवतः पृणाति, तुन्दाना ग्लहा, तुन्ना कन्याइव, एरुं पत्याइव जाया एजाति। ४४० मरुतां मन्वे, मे अधि ब्रुवन्तु, वाज-साते इमं वाजं अवन्तु, आशूनइव सु-यमान् ऊतये अह्वे, ते नः अंहसः मुञ्चन्तु। ४४१ ये सदा अ-क्षितं उत्सं वि-अञ्चन्ति, ये ओषधीषु रसं आसिञ्चन्ति, पृश्नि-मातॄन् मरुतः पुरः दधे, ते नः अंहसः मुञ्चन्तु।

अर्थ— ४३९ हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! (उद्-प्रुतः तान्) जलको गति देनेवाले उन मेघोंको (इयर्त) प्रेरित करो। उनसे हुई (या वृष्टिः) जो बारिश (विश्वाः निवतः) सभी दरीकंदराओंको (पृणाति) परिपूर्ण कर देती है, उस समय (तुन्दाना ग्लहा) दहाडनेवाली बिजली (तुन्ना कन्याइव) उपवर कन्या (एरुं) नवयुवक को प्राप्त करती है, उस समयकी तरह तथा (पत्याइव जाया) पतिके आलिंगनमें रही नारीकी नाईं (एजाति) विकम्पित हो उठती है। ४४० (मरुतां) वीर मरुतोंको मैं (मन्वे) सम्मान देता हूँ, वे (मे) मुझे (अधि ब्रुवन्तु) उपदेश दें, पथप्रदर्शन करें और (वाज-साते) युद्धके अवसरपर (इमं) इस मेरे (वाजं) बलकी (अवन्तु) रक्षा करें। (आशूनइव) वेगवान घोडोंके तुल्य अपना (सु-यमान्) अच्छा नियमन भली प्रकार करनेवाले उन वीरोंको हमारे (ऊतये) संरक्षणार्थ (अह्वे) मैं बुलाता हूँ। (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) पापसे (मुञ्चन्तु) छुडा दें। ४४१ (ये) जो (सदा) हमेशा (अ-क्षितं) कभी न न्यून होनेवाले (उत्सं) जलप्रवाहको (वि-अञ्चन्ति) विशेष ढंगसे प्रवर्तित करते हैं, (ये) जो (ओषधीषु) औषधियोंपर (रसं आसिञ्चन्ति) जलका छिडकाव करते हैं, उन (पृश्नि-मातॄन् मरुतः) भूमिको माता समझनेवाले वीर मरुतोंको मैं (पुरः दधे) अग्रभागमें रख देता हूँ। (ते) वे वीर (नः अंहसः मुञ्चन्तु) हमें पापोंसे बचायँ।

भावार्थ— ४३९ वायुप्रवाह मेघोंको प्रेरित कर तथा वर्षाका प्रारंभ करके समूची दरीकंदराओंको जलसे परिपूर्ण कर डालते हैं। उस समय विद्युत् मेघोंसे इस भाँति सम्मिलित हो जाती है, जैसे युवतियाँ अपने नवयुवक पतिदेवको गले लगाती हैं। ४४० वीर हमें योग्य मार्ग दर्शाँय, लोगोंके बलका संरक्षण करे तथा उसका दुरुपयोग होने न दें। सिखाये हुए घोडे जिस भाँति आज्ञानुवर्ती रहते हैं उसी प्रकार ये वीर हैं और वे हमें पापसे बचाकर सुरक्षित रखें। ४४१ वायुप्रवाहोंके कारण वर्षा हुआ करती है, भूमिपर जलके स्रोत एवं झरने बहते हैं, वनस्पतियोंमें रसकी वृद्धि होती है। पापसे बचनेमें वीर हमें सहायता दे दें।

टिप्पणी- [४३९] (१) निवत् = भूमिका निम्न विभाग, दरी। (२) ग्लहः = द्यूतक्रीडा, कितव। (३) तुन्ना = क्षतविक्षत, विकल, (कामबाधासे पीडित); (तुद्- व्यथने = कष्ट देना, मारना, दुःख देना।) (४) एरु = जानेवाला, (प्राप्त करनेहारा)। [४४१] (१) पुरः दधे = हमेशा आँखोंके सामने धर देता हूं, अग्रभागमें रखता हूं, मार्गदर्शक समझता हूं।

❀

(४४२) पर्यः । धेनूनाम् । रसम् । ओषधीनाम् । जवम् । अर्वताम् । कवयः । ये । इन्वथ ।
शग्माः । भवन्तु । मरुतः । नः । स्योनाः । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥३॥

(४४३) अपः । समुद्रात् । दिवम् । उत् । वहन्ति । दिवः । पृथिवीम् । अभि । ये । सृजन्ति ।
ये । अत्ऽभिः । ईशानाः । मरुतः । चरन्ति । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥४॥

(४४४) ये । कीलालेन । तर्पयन्ति । ये । घृतेन । ये । वा । वयः । मेदसा । सम्ऽसृजन्ति ।
ये । अत्ऽभिः । ईशानाः । मरुतः । वर्षयन्ति । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥५॥

अन्वयः— ४४२ ये कवयः धेनूनां पयः ओषधीनां रसं अर्वतां जवं इन्वथ (ते) शग्माः मरुतः नः स्योनाः भवन्तु, ते न अंहसः मुञ्चन्तु । ४४३ ये समुद्रात् अपः दिवं उत् वहन्ति, दिवः पृथिवीं अभि सृजन्ति, ये अद्भिः ईशानाः मरुतः चरन्ति, ते नः अंहसः मुञ्चन्तु । ४४४ ये कीलालेन ये घृतेन तर्पयन्ति, ये वा वयः मेदसा संसृजन्ति, ये अद्भिः ईशाना मरुतः वर्षयन्ति, ते नः अंहसः मुञ्चन्तु ।

अर्थ— ४४२ (ये कवयः) जो ज्ञानी वीर (धेनूनां पयः) गौओंके दुग्धका तथा (ओषधीनां रसं) वनस्पतियोंके रसका सेवन करके (अर्वतां जवं) घोडोंके वेगको (इन्वथ) प्राप्त करते हैं, वे (शग्माः) समर्थ (मरुतः) वीर मरुत् (नः) हमारे लिए (स्योना भवन्तु) सुखकारक हों। (ते) वे (न) हमें (अंहसः मुञ्चन्तु) पापोंसे बचायँ । ४४३ (ये) जो (समुद्रात्) समुन्दरमें से (अपः) जलोंको (दिवं उत् वहन्ति) अन्तरिक्षमें ऊपर ले चलते हैं और (दिवः) अन्तरिक्षसे (पृथिवीं अभि) भूमण्डलपर वर्षाके रूपमें (सृजन्ति) छोड देते हैं, और (ये) जो ये (अद्भिः) जलोंकी वजहसे (ईशानाः) संसारपर प्रभुत्व प्रस्थापित करनेवाले (मरुतः) वीर-मरुत् (चरन्ति) संचार करते हैं, (ते) वे (नः अंहसः मुञ्चन्तु) हमें पापोंसे रिहा कर दें । ४४४ (ये) जो (कीलालेन) जलसे तथा (ये) जो (घृतेन) घृतादि पौष्टिक पदार्थों से सबको (तर्पयन्ति) तृप्त करते हैं, (ये वा) अथवा जो (वयः) पंछियों को भी (मेदसा संसृजन्ति) मेदसे संयुक्त करते हैं, और (ये) जो (अद्भिः ईशानाः) जलकी वजह से विश्वपर प्रभुत्व प्रस्थापित करनेवाले (मरुतः वर्षयन्ति) वीर मरुत् वर्षा करते हैं (ते) वे (नः) हमें (अंहसः मुञ्चन्तु) पापसे छुडायें ।

भावार्थ— ४४२ वीर सैनिक गोदुग्ध तथा सोमसदृश वनस्पतियोंके रसके सेवनसे अपनी शक्ति बढाते हैं । ऐसे वीर हमें सुख दें और पापोंसे हमें सुरक्षित रखें । ४४३ वायुओंकी सहायतासे समुद्रमें विद्यमान अपार जलराशि भाफके रूपमें ऊपर उठ जाती है और मेघमंडल के रूप में परिवर्तित हो चुकनेपर वर्षाके रूपमें फिर पृथ्वीपर आ जाती है । इस भाँति ये वायुप्रवाह विशुद्ध जलके प्रदानसे सारे संसारको जीवन देनेवाले हैं, अतः येही सृष्टिके सच्चे अधिपति है । वे हमें पापोंके जालसे छुडायँ। ४४४ वायुओंके संचार से मेघ से वर्षा होती है और सभी वृक्षवनस्पतियोंमें भाँतिभाँतिके रसोंकी वृद्धि होती है, तथा गौ आदि पशुओंमें दूध आदि पुष्टिकारक रसोंकी समृद्धि होती है। इस भाँति ये मरुत् रससमृद्धि निष्पन्न कर समूची सृष्टिपर प्रभुत्व प्रस्थापित करते हैं । हम चाहते हैं कि वे हमें पापोंसे सुरक्षित रखें ।

टिप्पणी— [४४२] (१) इन्व् (व्याप्तौ) = जाना, व्याप्त होना, पकडना, कब्जा करना, आनन्द देना, भर देना, प्रभु होना। (२) शग्माः (शक्माः-शक् शक्तौ)= समर्थ। (३) स्योन = सुखदायक, सुन्दर। [४४४] (१) वयस्= पंछी, यौवन, अन्न, शक्ति, आरोग्य । वयः मेदसा संसृजन्ति= यौवनको मेद या मज्जासे युक्त कर देते हैं; शक्तिको मेद एवं मज्जासे जोड देते हैं, अर्थात् जैसे शरीरमें मेद को बढाते हैं, वैसेही अतुल शक्तिभी पर्याप्त मात्रामें निर्मित करते हैं ।

(४४५) यदि । इत् । इदम् । मरुतः । मारुतेन । यदि । देवाः । दैव्येन । ईदृक् । आर ।
यूयम् । ईशिध्वे । वसवः । तस्य । निःऽकृतेः । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥६॥
(४४६) तिग्मम् । अनीकम् । विदितम् । सहस्वत् । मारुतम् । शर्धः । पृतनासु । उग्रम् ।
स्तौमि । मरुतः । नाथितः । जोहवीमि । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥७॥

अङ्गिरा ऋषि (अथर्व० ७।८२।३)

(४४७) सम्ऽवत्सरीणाः । मरुतः । सुऽअर्काः । उरुऽक्षयाः । सऽगणाः । मानुषासः ।
ते । असत् । पाशान् । प्र । मुञ्चन्तु । एनसः । साम्ऽतपनाः । मत्सराः । मादयिष्णवः ॥३॥

अन्वयः— ४४५ (हे) वसवः देवाः मरुतः ! यदि इदं मारुतेन इत्, यदि दैव्येन ईदृक् आर, यूयं तस्य निष्कृतेः ईशिध्वे, ते नः अंहसः मुञ्चन्तु। ४४६ तिग्मं अनीकं विदितं सहस्-वत् मारुतं शर्धः पृतनासु उग्रं, मरुतः स्तौमि, नाथितः जोहवीमि, ते नः अंहसः मुञ्चन्तु। ४४७ संवत्सरीणाः सु-अर्काः स-गणाः उरु-क्षयाः मानुषासः सान्तपनाः मत्सराः मादयिष्णवः ते मरुतः असत् एनसः पाशान् प्र मुञ्चन्तु।

अर्थ- ४४५ हे (वसवः) जनताको बसानेवाले (देवाः) द्योतमान (मरुतः !) वीर-मरुतो ! (यदि) अगर (इदं) यह पाप (मारुतेन इत्) मरुद्गणों के सम्बन्धमें या (यदि) अगर (दैव्येन) देवों के संबंधमें (ईदृक्) ऐसे (आर) उत्पन्न हुआ हो, तो (यूयं) तुम (तस्य निष्कृतेः) उस पापका विनाश करनेके लिए (ईशिध्वे) समर्थ हो। (ते) वे (नः) हमें (अंहसः मुञ्चन्तु) पापसे बचा दें।

४४६ (तिग्मं) प्रखर, अति तीव्र (अनीकं) सैन्यमें प्रकट होनेहारा, (विदितं) विख्यात तथा शत्रुओंका (सहस्-वत्) पराभव करनेमें समर्थ (मारुतं शर्धः) वीर मरुतोंका बल (पृतनासु) संग्रामोंमें, लडाइयोंमें (उग्रं) भीषण है; इन (मरुतः स्तौमि) वीर मरुतोंकी मैं सराहना करता हूँ। (नाथितः) कष्टसे पीडित होता हुआ मैं (जोहवीमि) उनसे प्रार्थना करता हूँ, उन्हें पुकारता हूँ। (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) पापसे (मुञ्चन्तु) छुडायें।

४४७ (संवत्सरीणाः) हर साल बारंबार आनेवाले, (सु-अर्काः) अत्यंत पूज्य, (स-गणाः) संघ बनाकर रहनेवाले, (उरु-क्षयाः) विस्तृत घरमें रहनेवाले, (मानुषासः) मानवोंके हित करनेवाले, (सान्तपनाः) शत्रुओंको परिताप देनेहारे, (मत्सराः) सोम पीनेवाले या आनन्दित होनेवाले तथा (मादयिष्णवः) दूसरोंको आनन्द देनेवाले (ते मरुतः) ये वीर मरुत् (असत्) हमारे (एनसः) पापके (पाशान्) फंदोंको (प्र मुञ्चन्तु) तोड डालें।

भावार्थ— ४४५ देवोंकी कृपासे हम पापोंसे दूर रहें।

४४६ वीरोंका युद्धमें प्रकट होनेवाला प्रचंड एवं विख्यात बल सबको विदित है। शत्रुसे पीडा पहुँचनेके कारण मैं इन वीरोंकी सराहना करता हूँ। ये वीर मुझे पापसे छुडायें। ४४७ बडे घरमें संघ बनाकर रहनेवाले, पूजनीय, तथा जनताका कल्याण करनेवाले वीर हमें पापोंसे बचा दें।

टिप्पणी— [४४६] (१) नाथितः = जिसे सहायताकी आवश्यकता है, पीडित; (नाथ् = नाध् = याञ्चोपतापैश्वर्याशीःषु) समर्थ होना, आशीर्वाद देना, प्रार्थना करना, माँगना, कष्ट देना। (२) अनीकं = सैन्य, समूह, युद्ध, प्रमुख, तेज, अस्त्र। [४४७] (१) उरु-क्षय = बडा चौडा घर, बैरक, सैनिकोंके रहनेका स्थान। (मंत्र ११७, ३११ तथा ३४५ देखिए)। (२) मत्सरः (मद् + सरः) = सोमरस पीकर हर्षित हो आगे बढनेवाला- प्रगतिशील।

अत्रिपुत्र वसुश्रुत ऋषि (ऋ० ५।३।३)

(४४८) तव॑ । श्रि॒ये । म॒रुत॑: । म॒र्जय॑न्त । रुद्र॑ । यत् । ते॒ । जनि॑म । चारु॑ । चि॒त्रम् ।
प॒दम् । यत् । विष्णो॑: । उप॒ऽमम् । नि॒ऽधायि॑ ।
तेन॑ । पा॒सि॒ । गुह्य॑म् । नाम॑ । गोना॑म् ॥३॥

अत्रिपुत्र श्यावाश्व ऋषि (ऋ० ५।६०।१-८)

(४४९) ईळे॑ । अ॒ग्निम् । सु॒ऽअव॑सम् । नम॑:ऽभिः । इ॒ह । प्र॒ऽस॒त्तः । वि । च॒य॒त् । कृ॒तम् । न॒: ।
रथै॑:ऽइव । प्र । भ॒रे॒ । वा॒ज॒यत्ऽभि॑: ।
प्र॒ऽद॒क्षि॒णित् । म॒रुता॑म् । स्तोम॑म् । ऋ॒ध्या॒म् ॥१॥

अन्वयः— ४४८ (हे) रुद्र ! तव श्रिये मरुतः मर्जयन्त, ते यत् जनिम चारु चित्रं, यत् उपमं विष्णोः पदं निधायि तेन गोनां गुह्यं नाम पासि ।

४४९ सु-अवसं अग्निं नमोभिः ईळे, इह प्र-सत्तः नः कृतं वि चयत्, वाजयद्भिः रथैःइव प्र भरे, प्र-दक्षिणित् मरुतां स्तोमं ऋध्यां ।

अर्थ— ४४८ हे (रुद्र !) भीषण वीर ! (तव श्रिये) तुम्हारी शोभा पानेके लिये (मरुतः) वीर मरुत् (मर्जयन्त) अपने आपको अत्यन्त पवित्र करते हैं । (ते यत् जनिम) तेरा जो जन्म है, वह सचमुच ही (चारु) सुन्दर तथा (चित्रं) आश्चर्यपूर्ण है । (यत्) क्योंकि (उपमं) सबमें अत्युच्च (विष्णोः पदं) विष्णुके स्थानमें-आकाशमें तेरा स्थान (निधायि) स्थिर हो चुका है । (तेन) उसी कारण से तू (गोनां) गौके, वाणियोंके (गुह्यं नाम) रहस्यपूर्ण यशको (पासि) सुरक्षित रखता है ।

४४९ (सु-अवसं) भली भाँति रक्षा करनेहारे (अग्निं) अग्नि की मैं (नमोभिः) नमनपूर्वक (ईळे) स्तुति करता हूं । (इह) यहाँपर (प्र-सत्तः) प्रसन्नतापूर्वक बैठा हुआ वह अग्नि (नः कृतं) हमारा यह कृत्य (वि चयत्) निष्पन्न करे, सिद्ध करे । (वाजयद्भिः) अन्नमय यज्ञोंसे, (रथैःइव) जैसे रथोंसे अभीष्ट जगह पहुँच जाते हैं, उसी प्रकार मैं अपने अभीष्टको (प्र भरे) पाता हूँ और (प्र-दक्षिणित्) प्रदक्षिणा करनेवाला मैं (मरुतां स्तोमं) वीर मरुतों के काव्यका गायन करके (ऋध्यां) समृद्धि पाता हूँ ।

भावार्थ— ४४८ शोभा बढानेके लिए ये वीर मरुत् अपनी तथा समीपस्थ वस्तुओंकी सफाई करते हैं । सभी हथियारोंको चमकीले बनाते हैं । इन वीरोंका जन्म समभुच लोककल्याण के लिए है, अतः वह एक रहस्यमय बात है । विष्णुपद इन वीरोंका अटल एवं अडिग स्थान है ।

४४९ संरक्षणकुशल इस अग्निकी सराहना मैं करता हूँ । यह अग्नि हमारा यह यज्ञ पूर्ण करे । जिनमें अन्न-दान करना पडता है, वैसे यज्ञ प्रारंभ कर मैं अपनी इच्छा की पूर्ति करता हूँ । इस अग्निकी प्रदक्षिणा करते हुए मैं इन वीरोंके स्तोत्र का गायन करता हूँ ।

टिप्पणी— [४४८] (१) मृज् (शुद्धौ शौचालंकारयोश्च) = धोना, माँजना, शुद्ध करना, अलंकृत करना । (२) विष्णोः पदं= आकाश, अवकाश । (३) उपमं= ऊँचा, सर्वोपरि, उत्कृष्ट । (४) गुह्यं= गुप्त, आश्चर्यजनक, रहस्यमय ।

[४४९] (१) वि+चि (चयने)=विशेष सूक्ष्म निगाहसे देखना-जानना, इकट्ठा करना, जाँच करना, अलग करना, पसंद करना, नाश करना, साफ करना, बनाना, जोड देना । (२) ऋध् (वृद्धौ) = वैभव बढना, विजयी होना, बढना । (३) प्र-दक्षिणित् = प्रदक्षिणा करनेहारा, सत्कर्मतापूर्वक कार्य करनेहारा ।

(४५०) आ । ये । तस्थुः । पृषतीषु । श्रुतासु । सुऽखेषु । रुद्राः । मरुतः । रथेषु ।
वना । चित् । उग्राः । जिहते । नि । वः । भिया । पृथिवी । चित् । रेजते । पर्वतः ।
चित् ॥ २ ॥

(४५१) पर्वतः । चित् । महि । वृद्धः । बिभाय । दिवः । चित् । सानु । रेजत । स्वने । वः ।
यत् । क्रीळथ । मरुतः । ऋष्टिऽमन्तः । आपःऽइव । सध्र्यञ्चः । धवध्वे ॥३॥

(४५२) वराःऽइव । इत् । रैवतासः । हिरण्यैः । अभि । स्वधाभिः । तन्वः । पिपिश्रे ।
श्रिये । श्रेयांसः । तवसः । रथेषु । सत्रा । महांसि । चक्रिरे । तनूषु ॥४॥

अन्वयः— ४५० ये रुद्राः मरुतः श्रुतासु पृषतीषु सुखेषु रथेषु आ तस्थुः, (हे) उग्राः ! वः भिया वना चित् नि जिहते पृथिवी चित्, पर्वतः चित् रेजते। ४५१ (हे) मरुतः ! वः स्वने महि वृद्धः पर्वतः चित् बिभाय, दिवः सानु चित् रेजते, ऋष्टिमन्त यत् सध्र्यञ्चः क्रीळथ आपःइव धवध्वे। ४५२ रैवतासः वराःइव इत् हिरण्यैः स्व-धाभिः तन्वः अभि पिपिश्रे, श्रेयांसः तवसः श्रिये रथेषु सत्रा तनूषु महांसि चक्रिरे।

अर्थ— ४५० (ये रुद्राः मरुतः) जो शत्रुदलको रुलानेवाले वीर मरुत् (श्रुतासु पृषतीषु) विख्यात धब्बेवाली हरिणियाँ जोते हुए (सुखेषु रथेषु) सुखकारक रथोंमें जब (आ तस्थुः) बैठते हैं, तब हे (उग्राः !) उग्र वीरो ! (वः भिया) तुम्हारे डरसे (वना चित्) वनतक (नि जिहते) विकंपित होते हैं; (पृथिवी चित्) भूमितक और (पर्वतः चित्) पहाडतक (रेजते) थरथर काँप उठते हैं।

४५१ हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! (वः स्वने) तुम्हारी गर्जनाके उपरान्त (महि) बडा (वृद्धः) बढा हुआ (पर्वतः चित्) पर्वत भी (बिभाय) घबरा उठता है; (दिवः) द्युलोक का (सानु चित्) विभाग भी (रेजते) विकम्पित हो उठता है। (ऋष्टि-मन्तः) भाले लेकर तुम (यत्) जब (सध्र्यञ्चः) इकट्ठे होकर (क्रीळथ) खेलते हो, तब (आपःइव) जलप्रवाह के समान (धवध्वे) दौडते हो।

४५२ (रैवतासः वराःइव इत्) धनिक दूल्होंकी नाईं (हिरण्यैः) सुवर्णालंकारों से विभूषित होते हुए ये वीर (स्व-धाभिः) पौष्टिक अन्नोंसे या धारक शक्तियोंसे अपने (तन्वः) शरीरोंको (अभि पिपिश्रे) सभी प्रकारोंसे सुन्दर सजाते हैं। (श्रेयांसः) श्रेष्ठ तथा (तवसः) बलवान वीर (श्रिये) यश-प्राप्तिके लिए जब (रथेषु) रथोंमें बैठते हैं, तब उन वीरोंने (सत्रा) एकत्रित होकर (तनूषु) अपने शरीरोंपर (महांसि चक्रिरे) बहुतहि तेज धारण किया।

भावार्थ— ४५० रथोंपर चढे हुए वीर जब शत्रुसेनापर हमला करनेके लिए निकल पडते हैं, तब पृथ्वी, पर्वत, एवं वन सभी दहल उठते हैं। क्योंकि इनका वेगही इतना प्रचंड है कि, उसके प्रभावसे कोई वस्तु पूर्णतया अप्रभावित नहीं रह सकती है। ४५१ इन वीरोंकी गर्जना होनेपर पहाड तथा शिखर काँपने लगते हैं। अपने हथियार लेकर जब ये एक जगह मिलकर रणभूमिमें युद्धक्रीडा करते हैं, तब इनका वेग इतना प्रचंड रहता है कि, मानों ये दौडतेही हैं, ऐसा प्रतीत होता है। ४५२ दूल्हे जब वधूके निकट जानेकी तैयारी करते हैं, तब जिस प्रकार सजावट करते हैं, उसी प्रकार ये वीर बनाव-सिंगार करते हैं, अतः दीखनेमें बडेही सुन्दर प्रतीत होते हैं। जब विजय पानेके लिए ये वीर रथपर बैठकर निकलते हैं, उस समय इनका तेज आँखोंको चौंधिया देता है।

टिप्पणी— [४५१] (१) धवध्वे = दौडते हो। (सा० भा०)

(४५३) अज्येष्ठासः । अकनिष्ठासः । एते । सम् । भ्रातरः । ववृधुः । सौभगाय ।
युवा । पिता । सुऽअपाः । रुद्रः । एषाम् । सुऽदुघा । पृश्निः । सुऽदिना । मरुत्ऽभ्यः ॥५॥
(४५४) यत् । उत्ऽतमे । मरुतः । मध्यमे । वा । यत् । वा । अवमे । सुऽभगासः । दिवि । स्थ ।
अतः । नः । रुद्राः । उत । वा । नु । अस्य । अग्ने । वित्तात् । हविषः । यत् । यजाम ॥६॥
(४५५) अग्निः । च । यत् । मरुतः । विश्वऽवेदसः । दिवः । वहध्वे । उत्ऽतरात् । अधि । स्नुऽभिः ।
ते । मन्दसानाः । धुनयः । रिशादसः । वामम् । धत्त । यजमानाय । सुन्वते ॥७॥

अन्वयः— ४५३ अ-ज्येष्ठासः अ-कनिष्ठासः एते भ्रातरः सौभगाय सं ववृधुः, एषां सु-अपाः युवा पिता रुद्रः सु-दुघा पृश्निः मरुद्भ्यः सु-दिना । ४५४ (हे) सु-भगासः रुद्राः मरुतः! यत् उत्तमे मध्यमे वा यत् वा अवमे दिवि स्थ अतः नः, उत वा (हे) अग्ने! यत् नु यजाम अस्य हविषः वित्तात् । ४५५ (हे) विश्व-वेदस मरुतः! अग्निः च यत् उत्तरात् दिवः अधि स्नुभिः वहध्वे, ते मन्दसानाः धुनयः रिश-अदस सुन्वते यजमानाय वामं धत्त ।

अर्थ— ४५३ ये वीर (अ-ज्येष्ठासः) श्रेष्ठ भी नहीं हैं और (अ-कनिष्ठासः) कनिष्ठ भी नहीं हैं, तो (एते) ये परस्पर (भ्रातरः) भाईपनसे बर्ताव रखते हुए (सौभगाय) उत्तम ऐश्वर्य पानेके लिए (सं ववृधुः) एकतापूर्वक अपनी वृद्धि करते हैं। (एषां) इनका (सु-अपाः) अच्छे कर्म करनेहारा (युवा) युवक (पिता) पिता (रुद्रः) महावीर है और (सु-दुघा) उत्तम दूध देनेहारी-अच्छे पेय देनेवाली (पृश्निः) गौ या भूमि इन (मरुद्भ्यः) वीर मरुतोंको (सु-दिना) अच्छे शुभ दिन दर्शाती है।

४५४ हे (सु-भगासः) उत्तम ऐश्वर्यसंपन्न (रुद्राः) शत्रुओं को रुलानेवाले (मरुतः!) वीर मरुतो! (यत्) जिस (उत्तमे) ऊपरके, (मध्यमे वा) मँझले (यत् वा अवमे) या नीचेके (दिवि) प्रकाश-स्थानमें तुम (स्थ) हो, (अतः) वहाँसे (नः) हमारी ओर आओ; (उत वा) और हे (अग्ने!) अग्ने! (यत् नु यजाम) जिसका आज हम यजन कर रहे हैं, (अस्य हविषः) वह हविष्यान्न (वित्तात्) तुम जान लो, अर्थात् उधर ध्यान दे दो।

४५५ हे (विश्व-वेदस) सब धनोंसे युक्त (मरुतः!) वीर मरुतो! तुम (अग्निः च) तथा अग्नि (यत्) चूँकि (उत्तरात् दिवः) ऊपर विद्यमान द्युलोकके (स्नुभिः) ऊँचे स्थानके मार्गोंसेही (अधि वहध्वे) सदैव जाते हो, अतः (ते) वे (मन्दसानाः) प्रसन्न वृत्तिके, (धुनयः) शत्रुदलको हिला-नेवाले तथा (रिश-अदसः) हिंसकोंका वध करनेवाले तुम (सुन्वते यजमानाय) सोमरस तैयार करने-वाले याजकको (वामं) श्रेष्ठ धन (धत्त) दे दो।

भावार्थ— ४५३ ये वीर परस्पर समभावसे बर्ताव रखते हैं, इसीलिए इनमें कोईभी न कनिष्ठ या श्रेष्ठ पाया जाता है। भाईचारा इनमें विद्यमान है और ये एकतासे श्रेष्ठ पुरुषार्थ करके अपनी समृद्धि करते हैं। महावीर इनका पिता है और गाय या पृथ्वी इनकी माता है, जो इन्हें अच्छे दिन दर्शाती है। ४५४ वीर जिधरभी हों, उधरसे हमारे निकट चले आएँ और जो हविर्भाग हम दे रहे हैं, उसे भली भाँति देखकर स्वीकार कर लें। ४५५ ये वीर उच्च स्थानमें रहते हैं। उल्लसित मनोवृत्तिके और शत्रुदलको परास्त करनेवाले ये वीर याजकोंको धन देते हैं।

टिप्पणी— ४५३ (१) स्वपाः (सु+अपस्= कृत्य)= अच्छे कर्म निष्पन्न करनेहारा। (२) अ-ज्येष्ठासः ०००० (मंत्र ३०५ देखिए)। [४५४] (१) [यहाँपर द्युलोकके तीन भाग माने गये हैं, 'उत्तमे, मध्यमे, अवमे दिवि'।] [४५५] (१) वाम = सुन्दर, टेढा, बायाँ, धन, संपत्ति। (२) मन्दसानः (मद् हर्षे)= हर्षयुक्त।

(४५६) अग्ने । मरुत्ऽभिः । शुभयत्ऽभिः । ऋक्वऽभिः । सोमम् । पिब । मन्दसानः ।
गणश्रिऽभिः ।
पावकेभिः । विश्वम्ऽइन्वेभिः । आयुऽभिः । वैश्वानर । प्रऽदिवा । केतुना । सऽजूः ॥८॥

अथर्वा ऋषि (अथर्व० १।२०।१)

(४५७) अदारऽसृत् । भवतु । देव । सोम । अस्मिन् । यज्ञे । मरुतः । मृडत । नः ।
मा । नः । विदत् । अभिऽभाः । मो इति । अशस्तिः । मा । नः । विदत् । वृजिना ।
द्वेष्या । या ॥ १ ॥

(अथर्व० ४।१५।४)

(४५८) गणाः । त्वा । उप । गायन्तु । मारुताः । पर्जन्य । घोषिणः । पृथक् ।
सर्गाः । वर्षस्य । वर्षतः । वर्षन्तु । पृथिवीम् । अनु ॥ ४ ॥

अन्वयः- ४५६ (हे) वैश्वा-नर अग्ने ! प्र-दिवा केतुना सजूः शुभयद्भिः ऋक्वभिः गण-श्रिभिः पावकेभिः विश्वं-इन्वेभिः आयुभिः मरुद्भिः मन्दसानः सोमं पिब । ४५७ (हे) देव सोम ! अ-दार-सृत् भवतु, (हे) मरुतः ! अस्मिन् यज्ञे नः मृडत, अभि-भा नः मा विदत्, अ-शस्तिः मो, या द्वेष्या वृजिना नः मा विदत् । ४५८ (हे) पर्जन्य ! घोषिणः मारुताः गणाः पृथक् त्वा उप गायन्तु, वर्षतः वर्षस्य सर्गाः पृथिवीं अनु वर्षन्तु ।

अर्थ— ४५६ हे (वैश्वा-नर) विश्वके नेता (अग्ने !) अग्ने ! (प्र-दिवा) प्रखर तेजसे तथा (केतुना) ज्वालाओं से (सजूः) युक्त होकर तू (शुभयद्भिः) शोभायमान, (ऋक्वभिः) सराहनीय, (गण-श्रिभिः) संघजन्य शोभासे युक्त, (पावकेभिः) पवित्र, (विश्वं-इन्वेभिः) सबको उत्साह देनेहारे तथा (आयुभिः) दीर्घ जीवन का उपभोग लेनेवाले (मरुद्भिः) वीर मरुतों के साथ (मन्दसानः) आनन्दित होकर (सोमं पिब) सोमरसका सेवन कर ।

४५७ हे (देव सोम !) तेजस्वी सोम ! हमारा शत्रु अपनी (अ-दार-सृत्) स्त्रीसे भी न मिलानेवाला (भवतु) हो जाय, अर्थात् मर जाए । हे (मरुतः !) वीर मरुतो ! (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञमें (नः मृडत) हमें सुखी करो । हमारा (अभि-भाः) तेजस्वी दुश्मन (न मा विदत्) हमें न मिले, हमारी ओर न आ जाए । हमें (अ-शस्तिः मो) अपयश न मिले । (या द्वेष्या) जो निन्दनीय (वृजिना) पाप हैं, वे (नः मा विदत्) हमें न लगें ।

४५८ हे (पर्जन्य !) पर्जन्य ! (घोषिण) गर्जना करनेहारे (मारुताः गणाः) मरुतों के संघ (पृथक्) विभिन्न ढंगसे (त्वा उप गायन्तु) तुम्हारी स्तुति का गायन करें । (वर्षतः वर्षस्य) बडे वेगसे होनेवाली धुवाँधार वर्षा की (सर्गाः) धाराएँ (पृथिवीं अनु वर्षन्तु) भूमिपर लगातार गिरती रहें ।

भावार्थ— ४५७ हमारा शत्रु विनष्ट होवे । (वह अपनी स्त्रीसे मिलकर संतान उत्पन्न करनेमें समर्थ न होवे।) हमारे शत्रु हमसे दूर हों और उनका आक्रमण हमपर न होने पाय । हम अपकीर्ति तथा पापसे कोसों दूर होकर सुखसे रहें ।

टिप्पणी— [४५६] (१) विश्व-मिन्व= (मिन्व्- स्नेहने सेचने च) सबपर प्रेम करनेवाला, सभी जगह वर्षा करनेहारा । (२) सजुस्= युक्त । [४५७] (१) अ-दार- सृत्=स्त्रीके समीप न जानेवाला, घर न लौट जानेवाला (रणभूमिमें धराशायी होनेवाला) ।

(अथर्व० ४।१५।५-१०)

(४५९) उत् । ईरयत । मरुतः । समुद्रतः । त्वेषः । अर्कः । नभः । उत् । पातयाथ ।
महाऽऋषभस्य । नदतः । नभस्वतः । वाश्राः । आपः । पृथिवीम् । तर्पयन्तु ॥ ५ ॥

(४६०) अभि । क्रन्द । स्तनय । अर्दय । उदऽधिम् । भूमिम् । पर्जन्य । पयसा । सम् । अङ्घि ।
त्वया । सृष्टम् । बहुलम् । आ । एतु । वर्षम् । आशारऽएषी । कृशऽगुः । एतु ।
अस्तम् ॥ ६ ॥

(४६१) सम् । वः । अवन्तु । सुऽदानवः । उत्साः । अजगराः । उत ।
मरुत्ऽभिः । प्रऽच्युताः । मेघाः । वर्षन्तु । पृथिवीम् । अनु ॥७॥

अन्वयः— (हे) मरुतः ! समुद्रतः उत् ईरयथ, त्वेषः अर्कः नभः उत् पातयाथ, नदतः महा-ऋषभस्य नभस्वतः वाश्राः आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ।

४६० (हे) पर्जन्य ! अभि क्रन्द स्तनय उदधिं अर्दय भूमिं पयसा सं अङ्घि, त्वया सृष्टं बहुलं वर्षं आ एतु, आशार-एषी कृश-गुः अस्तं एतु ।

४६१ (हे) सु-दानवः ! वः अजगराः उत उत्साः सं अवन्तु, मरुद्भिः प्र-च्युताः मेघाः पृथिवीं अनु वर्षन्तु ।

अर्थ— ४५९ हे (मरुतः !) मरुतो ! तुम (समुद्रतः) समुद्रके जलको (उत् ईरयथ) ऊपर ले चलो । (त्वेषः) तेजस्वी तथा (अर्कः) पूज्य (नभः) मेघको आकाशमें (उत् पातयाथ) इधरसे उधर घुमाओ । (नदतः महा-ऋषभस्य) दहाडते हुए बडे भारी बैल के समान प्रतीत होनेवाले (नभस्वतः) मेघों के (वाश्रा. आपः) गरजते हुए जलसमूह (पृथिवीं तर्पयन्तु) भूमिको संतृप्त करें ।

४६० हे (पर्जन्य !) पर्जन्य ! (अभि क्रन्द) गरजते रहो, (स्तनय) दहाडना शुरु करो, (उदधिं) समुद्रमें (अर्दय) खलबली मचा दो, (भूमिं) पृथ्वी को (पयसा) जलसे (सं अङ्घि) भली प्रकार गीली करो। (त्वया सृष्टं) तुझसे निर्मित (बहुलं वर्षं) प्रचुर वर्षा (आ एतु) इधर आये तथा (आशार-एषी) बडी वर्षा की कामना करनेहारा (कृश-गुः) दुर्बल गौएँ साथ रखनेवाला कृषक (अस्तं एतु) घर चले जाकर आनन्दसे रहे ।

४६१ हे (सु-दानवः !) दानशूर वीरो ! (वः) तुम्हारे (अजगराः उत) अजगरके समान दीख पडनेवाले (उत्साः) जलप्रवाह (सं अवन्तु) हमारी भली भाँति रक्षा करें। (मरुद्भिः) मरुतों की ओर से वर्षाके रूपमें (प्र-च्युताः) नीचे टपके हुए (मेघाः) बादल (पृथिवीं अनु वर्षन्तु) भूमंडलपर लगातार वर्षा करें ।

टिप्पणी— [४६०] (१) आशार-एषी कृश-गुः अस्तं एतु = वर्षा कब होगी, इस आशासे आकाशकी ओर टकटकी बाँधकर देखनेवाला और कृश गायों को भी प्यार से समीप रखनेवाला किसान वर्षा होनेके पश्चात् सहर्ष अपने घर लौटकर आनन्द से दिन बिताने लगे । (यदि वर्षा न हो, घासतिनका न मिले, तो कृषक अपने गोधनको साथ ले जहाँ जल पर्याप्त मात्रामें उपलब्ध होता है ऐसे स्थानपर जा बसते हैं, और वृष्टि की राह देखते रहते हैं । वर्षा होनेके उपरान्त तृणकी यथेष्ट समृद्धि होतेही वे अपने पूर्व निवासस्थानमें लौट आते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि, इस मन्त्रमें इस प्रणाली का उल्लेख किया हो ।)

(४६२) आशाम्ऽआशाम् । वि । द्योतताम् । वाताः । वान्तु । दिशःऽदिशः ।
मरुत्ऽभिः । प्रऽच्युताः । मेघाः । सम् । यन्तु । पृथिवीम् । अनु ॥ ८ ॥
(४६३) आपः । विऽद्युत् । अभ्रम् । वर्षम् । सम् । वः । अवन्तु । सुऽदानवः । उत्साः ।
अजगराः । उत ।
मरुत्ऽभिः । प्रऽच्युताः । मेघाः । प्र । अवन्तु । पृथिवीम् । अनु ॥९॥
(४६४) अपाम् । अग्निः । तनूभिः । सम्ऽविदानः । यः । ओषधीनाम् । अधिऽपाः । बभूव ।
सः । नः । वर्षम् । वनुताम् । जातऽवेदाः । प्राणम् । प्रऽजाभ्यः । अमृतम् । दिवः । परि ॥१०॥

अग्निर्मरुतश्च । (अग्निदेवता मन्त्र २४३८ से २४४६)

कण्वपुत्र मेधातिथि ऋषि (ऋ० १।१९।१-९)

४६५ प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे । मरुद्भिरग्न आ गहि ॥१॥ [२४३८]
(४६५) प्रति । त्यम् । चारुम् । अध्वरम् । गोऽपीथाय । प्र । हूयसे । मरुत्ऽभिः । अग्ने ।
आ । गहि ॥१॥

अन्वयः— ४६२ आशां-आशां वि द्योततां, दिशः-दिशः वाताः वान्तु, मरुद्भिः प्र-च्युताः मेघाः पृथिवीं अनु वर्षन्तु । ४६३ (हे) सु-दानव ! वः आपः विद्युत् अभ्रं वर्षं अजगराः उत उत्साः सं अवन्तु, मरुद्भिः प्र-च्युताः मेघाः पृथिवीं अनु प्र अवन्तु। ४६४ अपां तनूभिः संविदानः यः जात-वेदाः अग्निः ओषधीनां अधि-पाः बभूव सः नः प्रजाभ्यः दिवः परि अमृतं वर्षं प्राणं वनुतां। ४६५ त्यं चारुं अध्वरं प्रति गो-पीथाय प्र हूयसे, (हे) अग्ने ! मरुद्भिः आ गहि।

अर्थ— ४६२ (आशां-आशां) हर दिशामें बिजली (वि द्योततां) चमक जाए। (दिशः-दिशः) सभी दिशाओंमें (वाताः वान्तु) वायु बहने लगें। (मरुद्भिः) मरुतों से (प्र-च्युताः) नीचे गिरे हुए मेघाः) बादल वर्षा के रूपमें (पृथिवीं अनु सं यन्तु) भूमिसे मिल जायँ।

४६३ हे (सु-दानवः!) दानी वीरो ! (वः) तुम्हारा (आपः) जल, (विद्युत्) बिजली, (अभ्रं) मेघ, (वर्षं) बारिश तथा (अजगराः उत उत्साः) अजगर की नाईं प्रतीत होनेवाले झरने, जलप्रवाह सभी प्राणियोंको (सं अवन्तु) बराबर बचा दें। (मरुद्भिः प्र-च्युताः मेघाः) मरुतों से नीचे गिराये हुए मेघ (पृथिवीं अनु) भूमिको अनुकूल ढंगसे (प्र अवन्तु) ठीकठीक सुरक्षित रखें।

४६४ (अपां तनूभिः) जलों के शरीरों से (सं-विदानः) तादात्म्य पाया हुआ (यः जात-वेदाः अग्निः) जो वस्तुमात्रमें विद्यमान अग्नि (ओषधीनां अधि-पाः) औषधियोंका संरक्षण करनेवाला है, (स) वह (नः प्रजाभ्यः) हमारी प्रजाके लिए (दिवः परि) द्युलोकका (अमृतं) मानों अमृतही ऐसा (वर्षं) बारिशका पानी (प्राणं वनुता) प्राणशक्तिके साथ दे दे।

४६५ (त्यं चारुं अ-ध्वरं प्रति) उस सुन्दर हिंसारहित यज्ञमें (गो-पीथाय) गोरस पीनेके लिए तुझे (प्र हूयसे) बुलाते हैं, अतः हे (अग्ने) अग्ने ! (मरुद्भिः) वीर मरुतोंके साथ इधर (आ गहि) आ जाओ।

भावार्थ— ४६४ आकाशमेंसे जो वर्षा होती है, उसीके साथ एक प्रकार का प्राणवायु भी पृथ्वीपर उतरता है। वह सभी प्राणियों को तथा वनस्पतियोंको सुख देता है।

टिप्पणी— [४६५] (१) गो-पीथ (पा पाने रक्षणे च)= गोरसका पान, गौका संरक्षण।

४६६ नहि देवो न मर्त्यो महस्तव क्रतुं परः । मरुद्भिरग्न आ गहि ॥२॥ [२४३९]

(४६६) नहि । देवः । न । मर्त्यः । महः । तव । क्रतुम् । परः । मरुत्ऽभिः । अग्ने । आ । गहि । ॥२॥

४६७ ये महो रजसो विदु-र्विश्वे देवासो अद्रुहः । मरुद्भिरग्न आ गहि ॥३॥ [२४४०]

(४६७) ये । महः । रजसः । विदुः । विश्वे । देवासः । अद्रुहः । मरुत्ऽभिः । अग्ने । आ । गहि ॥३॥

४६८ य उग्रा अर्कमानृचु-रनाधृष्टास ओजसा । मरुद्भिरग्न आ गहि ॥४॥ [२४४१]

(४६८) ये । उग्राः । अर्कम् । आनृचुः । अनाधृष्टासः । ओजसा । मरुत्ऽभिः । अग्ने । आ । गहि ॥४॥

अन्वयः— ४६६ तव महः क्रतुं नहि देवः न मर्त्यः परः, (हे) अग्ने ! मरुद्भिः आ गहि।

४६७ ये विश्वे देवासः अ-द्रुहः महः रजसः विदुः मरुद्भिः (हे) अग्ने ! आ गहि ।

४६८ उग्राः ओजसा अन्-आ-धृष्टासः ये अर्कं आनृचुः, मरुद्भिः (हे) अग्ने ! आ गहि ।

अर्थ- ४६६ (तव महः क्रतुं) तेरे महान कर्तव्यको लाँघनेके लिए, तुझसे विरोध करनेके लिए (नहि देवः) देवता समर्थ नहीं है तथा (न मर्त्यः परः) मानव भी समर्थ नहीं हैं। हे (अग्ने!) अग्ने! (मरुद्भिः आ गहि) वीर मरुतों के संग इधर पधारो।

४६७ (ये) जो (विश्वे) सभी (देवासः) तेजस्वी तथा (अ-द्रुहः) विद्रोह न करनेवाले वीर हैं, वे (महः रजसः) विस्तीर्ण अन्तरिक्षको (विदुः) जानते हैं, उन (मरुद्भिः) वीर मरुतोंके साथ हे (अग्ने!) अग्ने! तू (आ गहि) यहाँ आगमन कर।

४६८ (उग्राः) शूर, (ओजसा) शारीरिक बलके कारण (अन्-आ-धृष्टासः) शत्रुओंको अजिंक्य ऐसे जो वीर (अर्कं आनृचुः) पूजनीय देवताकी उपासना करते हैं, उन (मरुद्भिः) वीर मरुतों के संघ के साथ हे (अग्ने!) अग्ने! (आ गहि) इधर आ जा।

भावार्थ- ४६६ कर्तृत्व का उल्लंघन करना विरोध करनाही है।

४६७ ये वीर तेजस्वी हैं और वे किसीसे वैरभाव नहीं रखते हैं, न किसी को कष्टही पहुँचाते हैं। इस भूमंडलपर जिस भाँति वे संचार करते हैं, उसी प्रकार अन्तरिक्षमेंसे भी वे प्रयाण करते हैं। हर जगह घूमकर वे ज्ञान पाते हैं। [वीरोंको उचित है कि वे आवश्यक सभी जानकारी हस्तगत करें।]

४६८ वीर उग्र स्वरूपवाले, शूर एवं बलिष्ठ बने और सभी प्रकारके शत्रुओंके लिए अजेय बन जायँ।

टिप्पणी— [४६६] (१) परः= दूसरा, श्रेष्ठ, समर्थ, उस पार विद्यमान।

[४६७] रजस्= अन्तरिक्ष, धूलि, पृथ्वी। महः रजसः विदुः= बडी भारी पृथ्वी एवं विशाल तथा महान अन्तरिक्षको जानते हैं। [वीरोंको शत्रुसेनापर आक्रमण करने पडते हैं, अतः भूमंडल परके विभाग, पर्वत, नदियाँ ऊबडखाबड प्रदेश आदिकी जानकारी और उसी प्रकार आकाशपथसे परिचय प्राप्त करना चाहिए। क्योंकि बिना इसके शत्रुदलका विध्वंस भली भाँति नहीं हो सकता।]

४६९ ये शुभ्रा घोरवर्पसः सुक्षत्रासो रिशादसः । मरुद्भिरग्न आ गहि ॥५॥ [२४४२]

(४६९) ये । शुभ्राः । घोरऽवर्पसः । सुऽक्षत्रासः । रिशादसः । मरुत्ऽभिः । अग्ने । आ । गहि ॥५॥

४७० ये नाकस्याधि रोचने दिवि देवास आसते । मरुद्भिरग्न आ गहि ॥६॥ [२४४३]

(४७०) ये । नाकस्य । अधि । रोचने । दिवि । देवासः । आसते । मरुत्ऽभिः । अग्ने । आ । गहि ॥६॥

४७१ य ईङ्खयन्ति पर्वतान् तिरः समुद्रमर्णवम् । मरुद्भिरग्न आ गहि ॥७॥ [२४४४]

(४७१) ये । ईङ्खयन्ति । पर्वतान् । तिरः । समुद्रम् । अर्णवम् । मरुत्ऽभिः । अग्ने । आ । गहि ॥७॥

४७२ आ ये तन्वन्ति रश्मिभि–स्तिरः समुद्रमोजसा । मरुद्भिरग्न आ गहि ॥८॥ [२४४५]

(४७२) आ । ये । तन्वन्ति । रश्मिऽभिः । तिरः । समुद्रम् । ओजसा । मरुत्ऽभिः । अग्ने । आ । गहि ॥८॥

अन्वयः— ४६९ ये शुभ्राः घोर-वर्पसः सु-क्षत्रासः रिश-अदसः मरुद्भिः (हे) अग्ने ! आ गहि ।
४७० ये देवासः नाकस्य अधि रोचने दिवि आसते, मरुद्भिः (हे) अग्ने ! आ गहि ।
४७१ ये पर्वतान् ईङ्खयन्ति, अर्णवं समुद्रं तिरः, मरुद्भिः (हे) अग्ने ! आ गहि ।
४७२ ये रश्मिभिः ओजसा समुद्रं तिरः तन्वन्ति, मरुद्भिः (हे) अग्ने ! आ गहि ।

अर्थ- ४६९ (ये शुभ्राः) जो गौरवर्णवाले, (घोर-वर्पसः) देखनेवाले के दिलको तनिक स्तिमित कर सके, ऐसे बृहदाकार शरीरसे युक्त, (सु-क्षत्रासः) उच्च कोटिके क्षत्रिय हैं, अतः (रिश-अदसः) हिंसकों का वध करनेहारे हैं, उन (मरुद्भिः) वीर मरुतोंके झुंडके साथ हे (अग्ने!) अग्ने! इधर पधारो।

४७० (ये देवासः) जो तेजस्वी होते हुए (नाकस्य अधि) सुखदायक स्थानमें या (रोचने दिवि) प्रकाशयुक्त द्युलोकमें (आसते) रहते हैं, उन (मरुद्भिः) वीर मरुतों के साथ हे (अग्ने!) अग्ने! (आ गहि) इधर आओ।

४७१ (ये) जो (पर्वतान्) पहाडों को (ईङ्खयन्ति) हिला देते हैं और जो (अर्णवं समुद्रं) प्रक्षुब्ध समुन्दरको भी (तिरः) तैरकर परे चले जाते हैं, उन (मरुद्भिः) वीर मरुतों के साथ हे (अग्ने!) अग्ने! (आ गहि) इधर आ जाओ।

४७२ (ये) जो (रश्मिभिः) अपने तेजसे तथा (ओजसा) बलसे (समुद्रं) समुन्दरको (तिरः तन्वन्ति) लाँघकर परे जा पहुँचते हैं, उन (मरुद्भिः) वीर मरुतों के साथ हे (अग्ने!) अग्ने! (आ गहि) इधर आ जाओ।

भावार्थ- ४६९ वीर सैनिक अपनी सामर्थ्य बढावें, शरीरको बलिष्ठ बना दें और शत्रुओंका हर ढंगसे पराभव करें।

टिप्पणी—[४६९] (१) वर्पस्=मूर्ति, आकृति, शरीर। (२) सु-क्षत्रासः= अच्छे, उत्कृष्ट क्षत्रिय। [इस पदसे साफ साफ जाहिर होता है कि, मरुत् क्षत्रिय वीर हैं। ऋ० १।१६५।५ देखिए। वहाँ 'स्वक्षत्रेभिः' पद पाया जाता है।]

[४७०] (१) नाक= (न-अ-क) क= सुख, अक = दुःख, नाक = सुखमय लोक।

[४७१] (१) पर्वतान् ईङ्खयन्ति = (देखिए मरुद्देवता मंत्र १७,४०,४९।)

४७३ अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु । मरुद्भिरग्न आ गहि ॥९॥ [२४४६]
(४७३) अभि । त्वा । पूर्वऽपीतये । सृजामि । सोम्यम् । मधु । मरुत्ऽभिः । अग्ने । आ । गहि ॥९॥

कण्वपुत्र सोभरि ऋषि (ऋ० ८।१०३।१४) (अग्निदेवता मंत्र २४४७)

४७४ आग्ने याहि मरुत्सखा रुद्रेभिः सोमपीतये । सोभर्या उप सुष्टुतिं मादयस्व स्वर्णरे ॥१४॥
(४७४) आ । अग्ने । याहि । मरुत्ऽसखा । रुद्रेभिः । सोमऽपीतये । सोभर्याः । उप । सुऽस्तुतिम् । मादयस्व । स्वःऽनरे । ॥१४॥ [२४४७]

इन्द्र-मरुतश्च । (इन्द्रदेवता मंत्र ३२४५-३२४६)

विश्वामित्रपुत्र मधुछन्दा ऋषि (ऋ० १।६।५,७)

४७५ वीळु चिदारुजत्नुभिर्गुहा चिदिन्द्र वह्निभिः । अविन्द उस्रिया अनु ॥५॥ [३२४५]
(४७५) वीळु । चित् । आरुजत्नुऽभिः । गुहा । चित् । इन्द्र । वह्निऽभिः । अविन्दः । उस्रियाः । अनु ॥५॥

अन्वयः— ४७३ त्वा पूर्व-पीतये मधु सोम्यं अभि सृजामि, (हे) अग्ने ! मरुद्भिः आ गहि । ४७४ (हे) अग्ने ! मरुत्-सखा रुद्रेभिः सोम-पीतये स्वर्-नरे आ याहि, सोभर्याः सु-स्तुतिं उप मादयस्व । ४७५ (हे) इन्द्र ! वीळु चित् आ-रुजत्नुभिः वह्निभिः (मरुद्भिः) गुहा चित् उस्रियाः अनु अविन्दः ।

अर्थ- ४७३ (त्वा) तुझे (पूर्व-पीतये) प्रारंभमें ही पीने के लिए यह (मधु सोम्यं) मीठा सोमरस (अभि सृजामि) मैं निर्माण कर दे रहा हूं, हे (अग्ने !) अग्ने ! (मरुद्भिः आ गहि) वीर मरुतोंके साथ इधर आओ।

४७४ हे (अग्ने !) अग्ने ! तू (मरुत्-सखा) वीर मरुतोंका मित्र है, अतः तू (रुद्रेभिः) शत्रुओं को रुलानेवाले इन वीरों के संग (सोम-पीतये) सोम पीनेके लिए (स्व-र्-नरे) अपने प्रकाश का जिससे विस्तार होता है, ऐसे इस यज्ञमें (आ याहि) पधारो और (सोभर्याः सु-स्तुतिं) इस सोभरि ऋषिकी अच्छी स्तुतिको सुनकर (मादयस्व) संतुष्ट बनो ।

४७५ हे (इन्द्र!) इन्द्र ! (वीळु चित्) अत्यन्त सामर्थ्यवान् शत्रुओंका भी (आ-रुजत्नुभिः) विनाश करनेहारे और (वह्निभिः) धन ढोनेवाले इन वीरोंकी सहायतासे शत्रुओंने (गुहा चित्) गुफामें या गुप्त जगह रखी हुई (उस्रियाः) गौओंको तू (अनु अविन्दः) पा सका, वापिस लेनेमें समर्थ हो गया ।

भावार्थ— ४७५ ये वीर, दुश्मनोंके बडे बडे गढोंका निपात करके अपने अधीन करनेमें, बडेही सफल होते हैं । इन्हीं वीरोंकी मदद पाकर वह, शत्रुओंने बडी सतर्कतापूर्वक किसी गुप्त स्थानमें रखी हुई गौएँ या धनसंपदाका पता लगानेमें, सफलता पाता है । यदि ये वीर सहायता न पहुँचाते, तो किसी अज्ञात, दुर्गम तथा बीहड भूभागमें छिपी हुई गोसंपदाको पाना उसके लिये दूभर होता, इसमें क्या संशय ?

टिप्पणी— [४७४] (१) सोभर्याः (सोभरेः) [सोभरिः-सुभरिः] = सोभरिनामक ऋषि की, उत्तम ढंगसे पालनपोषण करनेहारे की (प्रशंसा) । (२) स्वर्णरे (स्व-र्-नरे) = (स्व) अपने (रा) प्रकाशका विस्तार करनेके कार्यमें-यज्ञमें । (स्वर्) अपना प्रकाश हो तथा (न-रम्) वैयक्तिक भोगलिप्सा न हो, ऐसा यज्ञ ।

[४७५] (१) आ-रुजत्नु= (आ+रुज् भङ्गे हिंसायां च)- तोडनेवाला, क्षति पैदा करनेवाला, विनाशक, टुकडे टुकडे करनेवाला, रोगपीडित । (२) उस्रिय (वस् निवासे)= रहनेवाला, बैल, गाय, बछडा, दूध, तेज, प्रकाश । (३) वह्निः (वह् प्रापणे)= ढोनेवाला, ले चलनेवाला अग्नि ।

४७६ इन्द्रे॑ण॒ सं हि दृक्ष॑से संजग्मा॒नो अबि॑भ्युषा । म॒न्दू स॑मा॒नव॑र्चसा ॥७॥ [३२४६]
(४७६ इन्द्रे॑ण । सम् । हि । दृक्ष॑से । सम्ऽज॒ग्मा॒नः । अबि॑भ्युषा । म॒न्दू इति॑ । स॒मा॒नऽव॑र्चसा ॥७॥

मरुत्वानिन्द्रः । (इन्द्रदेवता मंत्र ३२४७-३२८९)
कण्वपुत्र मेधातिथि ऋषि (ऋ० १।२३।७-९)

४७७ म॒रुत्व॑न्तं हवामह॒ इन्द्र॒मा सोम॑पीतये । स॒जूर्ग॒णेन॑ तृम्पतु ॥७॥ [३२४७]
(४७७) म॒रुत्व॑न्तम् । ह॒वा॒म॒हे॒ । इन्द्र॑म् । आ । सोम॑ऽपीतये । स॒ऽजूः । ग॒णेन॑ । तृ॒म्प॒तु॒ ॥७॥
४७८ इन्द्र॑ज्येष्ठा॒ मरु॑द्गणा॒ देवा॑सः॒ पूष॑रातयः । विश्वे॒ मम॑ श्रु॒ता हव॑म् ॥८॥ [३२४८]
(४७८) इन्द्र॑ऽज्येष्ठाः । मरु॑त्ऽगणाः । देवा॑सः । पूष॑ऽरातयः । विश्वे॑ । मम॑ । श्रु॒त॒ । हव॑म् ॥८॥

अन्वयः— ४७६ (हे मरुत्-गण !) अ-बिभ्युषा इन्द्रेण सं-जग्मानः सं दृक्षसे हि, समान-वर्चसा मन्दू (स्थः) ।

४७७ मरुत्वन्तं इन्द्रं सोम-पीतये आ हवामहे, गणेन सजूः तृम्पतु ।

४७८ (हे) देवासः पूष-रातयः इन्द्र-ज्येष्ठाः मरुत्-गणाः ! विश्वे मम हवं श्रुत ।

अर्थ— ४७६ हे वीरो ! तुम सदैव (अ-बिभ्युषा इन्द्रेण) न डरनेवाले इन्द्रसे (सं-जग्मानः) मिलकर आक्रमण करनेहारे (सं दृक्षसे हि) सचमुच दीख पडते हो। तुम दोनों (समान-वर्चसा) सदृश तेज या उत्साहसे युक्त हो और (मन्दू) हमेशा प्रसन्न एवं उल्हसित बने रहते हो ।

४७७ (मरुत्वन्तं) वीर मरुतों से युक्त (इन्द्रं) इन्द्रको (सोम-पीतये) सोमपान के लिए हम (आ हवामहे) बुलाते हैं । वह इन्द्र (गणेन सजूः) इन वीरोंके गणके साथ (तृम्पतु) तृप्त होवे ।

४७८ हे (देवासः) तेजस्वी, (पूष-रातयः) सबके पोषणके लिए पर्याप्त हो इस ढंगसे दान देनेहारे, तथा (इन्द्र-ज्येष्ठाः) इन्द्रको सर्वोपरि प्रमुख समझनेवाले (मरुत्-गणाः) वीर मरुतो ! (विश्वे) तुम सभी (मम हवं श्रुत) मेरी प्रार्थना सुनो ।

भावार्थ— ४७६ हे वीरो ! तुम निडर इन्द्रके सहवास में सदैव रहते हो । इन्द्र को छोडकर तुम कभी क्षण भरभी नहीं रहते हो। तुममें एवं इन्द्रमें समान कोटिका तेज एवं प्रभाव विद्यमान है । तुम्हारा उत्साह कभी घटता नहीं है ।

४७८ इन वीरोंमें सभी समान रूपसे तेजस्वी हैं और सबके लिए पर्याप्त अन्न एवं धन पाकर सब लोगोंमें बाँट देते हैं । ऐसे इन वीरोंका प्रभु एवं नेता इन्द्र है । वे सभी मेरी प्रार्थना सुन लेनेकी कृपा करें ।

टिप्पणी— [४७६] (१) वर्चस्= शक्ति, बल, उत्साह, तेज, आकार । (२) मन्दुः= (मन्द् स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु) आनन्दित, स्तुति करनेहारा, निद्रासुख भोगनेवाला ।

[४७७] (१) तृम्प्= (प्रीणने) तृप्त होना, समाधान पाना । (२) सजुस्= युक्त ।

[४७८] (१) पूष-रातिः (पूष् वृद्धौ)= सबकी पुष्टि के लिये योग्य एवं पर्याप्त अन्न धन आदि का दान देनेवाला ।

४७९ हुत वृत्रं सुदानव इन्द्रेण सहसा युजा । मा नो दुःशंसं ईशत ॥९॥ [३२४९]

(४७९) हुत । वृत्रम् । सुऽदानवः । इन्द्रेण । सहसा । युजा । मा । नः । दुःशंसः । ईशत ॥९॥

मित्रावरुणपुत्र अगस्त्य ऋषि (ऋ० १।१६५।१-१४) (इन्द्रदेवता मंत्र ३२५०-३२६३)

४८० कया शुभा सवयसः सनीळाः समान्या मरुतः सं मिमिक्षुः ।
कया मती कुत एतास एते ऽर्चन्ति शुष्मं वृषणो वसूया ॥१॥ [३२५०]

(४८०) कया । शुभा । सऽवयसः । सऽनीळाः । समान्या । मरुतः । सम् । मिमिक्षुः ।
कया । मती । कुतः । आऽइतासः । एते । अर्चन्ति । शुष्मम् । वृषणः । वसुऽया ॥१॥

अन्वयः— ४७९ (हे) सु-दानवः ! सहसा इन्द्रेण युजा वृत्रं हत, दुस्-शंसः नः मा ईशत ।

४८० स-वयसः स-नीळाः स-मान्या मरुतः कया शुभा सं मिमिक्षुः ? एते कुतः एतासः ? वृषणः वसु-या कया मती शुष्मं अर्चन्ति ?

अर्थ- ४७९ हे (सु-दानवः !) दानशूर वीरो ! तुम (सहसा) शत्रुको परास्त करनेकी सामर्थ्यसे युक्त (इन्द्रेण युजा) इन्द्रके साथ रहकर (वृत्रं हत) निरोधक दुश्मनका वध कर डालो। (दुस्-शंसः) दुष्कीर्तिसे युक्त वह शत्रु (नः मा ईशत) हमपर प्रभुत्व प्रस्थापित न करे।

४८० (स-वयसः) समान उम्रवाले, (स-नीळाः) एकही घरमें निवास करनेहारे, (स-मान्या) समान रूपसे सम्माननीय (मरुतः) ये वीर मरुत् (कया शुभा) किस शुभ इच्छासे भला सभी (सं मिमिक्षुः) मिलजुलकर कार्य करते हैं ? (एते) ये (कुतः एतासः) किधरसे यहाँ आ गये और (वृषणः) बलवान होते हुए भी (वसु-या) धन पानेके लिए (कया मती) किस विचारसे ये (शुष्मं अर्चन्ति) बलकी पूजा करते हैं- अपनी सामर्थ्य बढाते ही रहते हैं।

भावार्थ- ४७९ ये वीर बडे अच्छे दानी हैं और इन्द्रसदृश सेनापतिके नेतृत्वमें रहकर दुरात्मा दुश्मनोंका वध तथा विध्वंस करते हैं। ऐसे शत्रुओंका प्रभाव इन वीरोंके अथक परिश्रमसे कहींभी नहीं टिकने पाता। जो शत्रु हमपर अपना प्रभुत्व प्रस्थापित करनेकी लालसासे प्रेरित हों, उन्हें ये वीर धराशायी कर डालें और ऐसा प्रबंध करें कि, ये दुष्ट शत्रु अपना सर ऊँचा न उठा सकें तथा हम शत्रुसेनाके चँगुलमें न फँसें।

४८० ये सभी वीर समान उम्रवाले हैं और वे एकही घरमें रहते हैं [सैनिक Barracks बैरकमें रहते हैं, सो प्रसिद्ध है।] सभी उन्हें सम्माननीय समझते हैं और लोगोंका हित हो, इसलिए वे शत्रुओंपर एकत्रित रूप से आक्रमण कर बैठते हैं। सुदूरवर्ती दुश्मनोंपर भी वे विजय पाते हैं और समूची जनताका हित हो, इस हेतु धन कमानेके लिए अपना बल बढाते रहते हैं।

टिप्पणी— [४७९] (१) शंसः (शंस् स्तुतौ दुर्गतौ च) = स्तुति, बुलाना, दुर्गति, सदिच्छा, दर्शानिहारा, आशीर्वाद, शाप। दुस्-शंसः = दुष्ट इच्छा रखनेवाला, बुरी लालसासे प्रेरित, अपकीर्तिसे युक्त। (२) सहस् = बल, सामर्थ्य, शत्रुका पराभव करनेकी शक्ति, शत्रुदलका आक्रमण बरदाश्त करते हुए अपनी जगह स्थायी रूप से टिकनेकी शक्ति। [४८०] (१) स-वयस् = (वयस् = वय, यौवन, अन्न, बल, पंछी, आरोग्य।) अन्नयुक्त, बलवान, नवयुवक, आरोग्यसंपन्न, समान उम्रका। (२) वसु-या = धन पानेके लिए जानेहारे, चेष्टा करनेमें निरत। (३) शुभ्=शोभा, तेज, सुख, विजय, अलंकार, जल, तेजस्वी रथ। (४) मिक्ष् = मिलाना (Mix), तैयार करना, इकट्ठा करना। (५) स-नीळाः = एक घरमें रहनेवाले, (देखो मरुद्देवताके मंत्र ३२१, ३४५, ४४७)।

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर भारत मुद्रणालय, औन्ध